मानस चिकित्सा

परमपूज्य महाराज श्री रामकिंकर जी



प्रकाशक :
तुलसी तत्वानुसंधान केन्द्र
कानपुर

•

प्रथम संस्करण : १९९४
५००० प्रतियाँ

•

मूल्य : ४५.००रुपये

•

मुद्रक :
जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस
१-सी. बाई का बाग,
इलाहाबाद (उ० प्र०)
फोन : ६०५०६४

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

प्राक्कथन

आज का युग संशय, कुण्ठा तथा प्रतिस्पर्धा का युग है। मानसिक रोगियों की संख्या बढ़ती जा रही है। उनके चिकित्सकों की संख्या भी बढ़ रही है। पर समस्याओं का ओर-छोर नहीं दीख रहा है। सच तो यह है कि जिन्हें हम मानस रोगी या पागल कहते हैं, रोगी केवल वे ही नहीं हैं। अपितु गोस्वामी जी तो कहते हैं....

"एहि बिधि सकल जीव जग रोगी"

इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं की ओर भी दृष्टि डाले। तब उसे अनुभव होगा कि वस्तुतः रोगी तो हम भी हैं। और स्वस्थ्य समाज के लिए परम आवश्यक है कि व्यक्ति अपने को ठीक-ठीक समझने और उसकी चिकित्सा के लिए प्रस्तुत हो।

रामचरितमानस के अन्त में कागभुशुण्डि गरुड़ के संवाद में इन्हीं मानस रोगों का सूक्ष्म और सांकेतिक वर्णन किया गया है। उसे हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक था कि पहले व्यक्ति उसे समझ कर प्रेरणा प्राप्त कर ले।

ब्रह्मलीन स्वामी श्री आत्मानंद जी महाराज के आग्रह पर रामकृष्ण मिशन विवेकानंद आश्रम रायपुर में इन प्रवचनों की श्रृंखला चली थी। इसका एक अंश "मानस रोग" नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। यह नवीन प्रकाशन भी उसी श्रृंखला की एक कड़ी है। आशा है सुधी जनों को यह पूर्वांश की ही भाँति प्रेरक प्रतीत होगी।

रामकिंकर

"श्री रामः शरणं मम"

महाराज श्री—एक परिचय

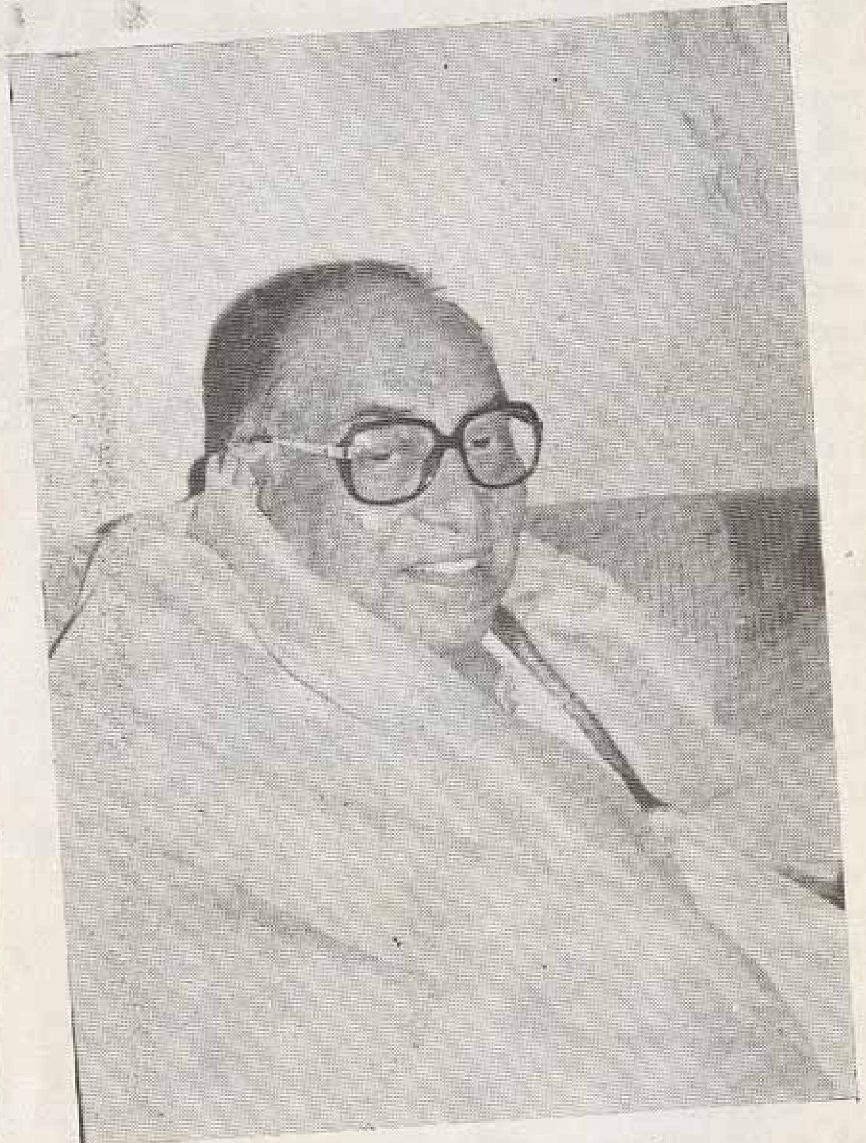
प्रभु की कृपा और प्रभु की वाणी का यदि कोई सार्थक पर्यायवाची शब्द ढूंढ़ा जाय, तो वह है—प्रज्ञा पुरुष, भक्तितत्व द्रष्टा, सन्त प्रवर, "परम-पूज्य महाराज श्री रामकिंकर जी उपाध्याय ।" अपनी अमृतमयी, धीर, गंभीर-वाणी-माधुर्य द्वारा भक्ति रसाभिलाषी-चातकों को, जनसाधारण एवं बुद्धिजीवियों को, नानापुराण निगमागम षट्शास्त्र वेदों का दिव्य रसपान कराकर रसासिक्त करते हुए, प्रतिपल निज व्यक्तित्व व चरित्र में श्री रामचरित-मानस के ब्रह्मराम की कृपामयी विभूति एवं दिव्यलीला का भावात्मक साक्षात्कार कराने वाले पूज्य महाराज श्री आधुनिक युग के परम तेजस्वी मनीषी, मानस के अद्भुत शिल्पकार, रामकथा के अद्वितीय अधिकारी व्याख्या-कार हैं।

भक्त-हृदय, रामानुरागी पूज्य महाराज श्री ने अपने अनवरत अध्यवसाय से श्री रामचरितमानस की मर्मस्पर्शी भावभगीरथी बहाकर अखिल विश्व को अनुप्राणित कर दिया है। आपने शास्त्रदर्शन, मानस के अध्ययन के लिए जो नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की है, वह इस युग की एक दुर्लभ अद्वितीय उपलब्धि है।

सर्वपन्था: गाव: सन्तु, दोग्धा तुलसीनन्दन ।
दिव्य राम-कथा दुग्ध:, प्रस्तोता रामकिंकर: ।।

जैसे पूज्य महाराज श्री का अनूठा भाव दर्शन वैसे ही उनका जीवन दर्शन अपने आपमें एक सम्पूर्ण-काव्य है। आपके नामकरण में ही श्री हनुमानजी की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। वैसे ही आपके जन्म की गाथा में ईश्वर कारण प्रकट होता है। आपका जन्म एक नवम्बर १९२४ को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पूर्वज मिर्जापुर के बरैनी नामक गाँव के निवासी थे। आपकी माता परम भक्तिमति श्री धनेसरा देवी एवं पिता पूज्य पं० शिवनायक उपाध्याय जी रामायण के सुविज्ञ व्याख्याकार एवं हनुमानजी महाराज के परम भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि श्री हनुमानजी के प्रति उनके पूर्ण समर्पण एवं अविचल भक्तिभाव के कारण उनकी बढ़ती अवस्था में श्री हनुमत्जयंती के ठीक सातवें दिन उन्हें एक विलक्षण प्रतिभायुक्त पुत्ररत्न की प्राप्ति दैविक कृपा से हुई। इसलिए उनका नाम "रामकिंकर" अथवा राम का सेवक रखा गया।

जन्म से ही होनहार व प्रखर बुद्धि के आप स्वामी रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जबलपुर व काशी में हुई। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोची एवं शान्त प्रकृति के बालक रामकिंकर अपनी उम्र के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक गंभीर थे। एकांतप्रिय, चिन्तन रत, विलक्षल प्रतिभा वाले सरल बालक अपनी शाला में अध्यापकों के भी अत्यंत प्रिय पात्र थे। बाल्यावस्था से ही आपकी



परमपूज्य महाराज श्री रामकिंकर जी

मेधाशक्ति इतनी विकसित थी कि क्लिष्ट एवं गंभीर लेखन, देश-विदेश का विशद साहित्य अल्पकालीन अध्ययन में ही आपके स्मृति पटल पर अमिट रूप से अंकित हो जाता था। प्रारंभ से ही पृष्ठभूमि के रूप में माता एवं पिता के धार्मिक विचार एवं संस्कारों का प्रभाव आप पर पड़ा। परन्तु परम्परानुसार पिता के अनुगामी वक्ता बनने का न तो कोई संकल्प था, न कोई अभिरुचि।

पर कालान्तर में विद्यार्थी जीवन में पूज्य महाराज श्री के साथ एक ऐसी चमत्कारिक घटना हुई कि जिसके फलस्वरूप आपके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। १८ वर्ष की अल्प आयु में जब पूज्य महाराज श्री अध्ययनरत थे, तब अपने कुल देवता श्री हनुमानजी महाराज का आपको अलौकिक स्वप्नदर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने आपको वट वृक्ष के नीचे शुभासीन करके दिव्य तिलक का आशीर्वाद देकर कथा सुनाने का आदेश दिया। स्थूल रूप में इस समय आप बिलासपुर में अपने पूज्य पिता के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे। यहाँ पिताश्री की कथा चल रही थी। ईश्वर संकल्पानुसार परिस्थिति भी अचानक कुछ ऐसी बन गई कि अनायास ही, पूज्य महाराज श्री के श्रीमुख से भी पिताजी के स्थान पर कथा कहने का प्रस्ताव एकाएक निकल गया।

आपके द्वारा श्रोता समाज के सम्मुख यह प्रथम भाव प्रस्तुति थी। किन्तु कथन शैली व वैचारिक शृंखला कुछ ऐसी मनोहर बनी कि श्रोता समाज विमुग्ध होकर, तन-मन व सुध-बुध खोकर उसमें अनायास ही बंध गया। आप तो रामरस की भावमाधुरी की बानगी बनाकर, वाणी का जादू कर मौन थे, किन्तु श्रोता समाज आनन्दमग्न होने पर भी अतृप्त था। इस प्रकार प्रथम प्रवचन से ही मानस प्रेमियों के अन्तर में गहरे पैठकर आपने अभिन्नता स्थापित कर ली।

ऐसा भी कहा जाता है कि २० वर्ष की अल्प आयु में आपने और एक स्वप्न देखा, जिसकी प्रेरणा से गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के प्रचार एवं उनकी खोजपूर्ण व्याख्या में ही अपना समस्त जीवन समर्पित कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। यह बात अकाट्य है कि प्रभु की प्रेरणा और संकल्प से जिस कार्य का शुभारंभ होता है, वह मानवीय स्तर से कुछ अलग ही गति-प्रगति वाला होता है। शैली की नवीनता व चिन्तनप्रधान विचारधारा के फलस्वरूप आप शीघ्र ही विशिष्टत: आध्यात्मिक जगत में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए।

ज्ञान-विज्ञान पथ में पूज्यपाद महाराज श्री की जितनी गहरी पैठ थी, उतना ही प्रबल पक्ष, भक्ति साधना का, उनके जीवन में दर्शित होता है। वैसे तो अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने अपने जीवन की दिव्य अनुभूतियों का रहस्योद्घाटन अपने श्रीमुख से बहुत आग्रह के बावजूद नहीं किया। पर कहीं-कहीं उनके जीवन के इस पक्ष की पुष्टि दूसरों के द्वारा जहाँ-तहाँ प्राप्त होती रही। उसी क्रम में उत्तराखण्ड की दिव्य भूमि ऋषिकेश में श्री हनुमानजी

महाराज का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, निष्काम भाव से किए गए, एक छोटे से अनुष्ठान के फलस्वरूप हुआ !! वैसे ही श्री चित्रकूट धाम की दिव्य भूमि में अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ परम पूज्य महाराज श्री के साथ घटित हुई जिनका वर्णन महाराज श्री के निकटस्थ भक्तों के द्वारा सुनने मिला !! परम पूज्य महाराज श्री अपने स्वभाव के अनुकूल ही इस विषय में सदैव मौन रहे।

प्रारंभ में भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य लीला भूमि वृन्दावन धाम में परम पूज्य महाराज श्री, ब्रह्मलीन स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज के आदेश पर कथा सुनाने गए। वहाँ एक सप्ताह तक रहने का संकल्प था। पर वहाँ के भक्त एवं साधु-संत समाज में आप इतने लोकप्रिय हुए कि उस तीर्थधाम ने आपको ग्यारह माह तक रोक लिया। उन्हीं दिनों में आपको वहाँ के महान सन्त अवधूत श्री उड़िया बाबाजी महाराज, भक्त शिरोमणि श्री हरिबाबाजी महाराज, स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज को भी कथा सुनाने का सौभाग्य मिला। कहा जाता है कि अवधूत पूज्य श्री उड़िया बाबा, इस होनहार बालक के श्रीमुख से निःसृत, विस्मित कर देने वाली वाणी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह मानते थे कि यह किसी पुरुषार्थ या प्रतिभा का परिणाम न होकर के शुद्ध भगवत्कृपा का प्रसाद है। उनके शब्दों में—"क्या तुम समझते हो, कि यह बालक बोल रहा है? इसके माध्यम से तो साक्षात् ईश्वरीय वाणी का अवतरण हुआ है।"

इसी बीच, अवधूत श्री उड़िया बाबा से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प, आपके हृदय में उदित हुआ और परमपूज्य बाबा के समक्ष अपनी इच्छा प्रगट करने पर बाबा के द्वारा लोक एवं समाज के कल्याण हेतु शुद्ध संन्यास वृत्ति से जनमानस सेवा की आज्ञा मिली।

सन्त आदेशानुसार एवं ईश्वरीय संकल्पानुसार मानस प्रचार-प्रसार की सेवा दिन-प्रतिदिन चारों दिशाओं में व्यापक होती गई। उसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क हुआ। काशी में प्रवचन चल रहा था। उस गोष्ठी में एक दिन भारतीय पुरातत्व और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान एवं चिन्तक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल आपकी कथा सुनने के लिए आए और आपकी विलक्षण एवं नवीन चिन्तन शैली से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री वेणी शंकर झा एवं रजिस्ट्रार श्री शिवनन्दनजी दर से इस Prodigious (विलक्षण प्रतिभायुक्त) प्रवक्ता के प्रवचन का आयोजन विश्वविद्यालय प्रांगण में रखने का आग्रह किया। आपकी विद्वत्ता इन विद्वानों के मनोमस्तिष्क को ऐसे उद्वेलित कर गई कि आपको अगले वर्ष से "विजिटिंग प्रोफेसर" के नाते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। इसी प्रकार काशी में आपका अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैसे श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री महादेवी वर्मा से साक्षात्कार

हुआ एवं शीर्षस्थ सन्तप्रवर का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

अतः पूज्य महाराज श्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका उद्देश्य है भारतीय जीवन पद्धति की समग्र खोज अर्थात् राष्ट्रीय मानस का साक्षात्कार। उन्होंने अपने विवेक प्रदीप्त मस्तिष्क से, विशाल परिकल्पना से श्री रामचरितमानस के अन्तर्रहस्यों का उद्घाटन किया है। आपने जो अभूतपूर्व एवं अनूठी दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जो भक्ति ज्ञान का विश्लेषण तथा समन्वय, शब्द ब्रह्म के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है, उस प्रकाश स्तम्भ के दिग्दर्शन में आज सारे इष्ट मार्ग आलोकित हो रहे हैं! आपके अनुपम शास्त्रीय पाण्डित्य द्वारा, न केवल आस्तिकों का ही ज्ञानवर्धन होता है अपितु नई पीढ़ी के शंकालु युवकों में भी धर्म और कर्म का भाव संचित हो जाता है। "कीरति भनिति भूति भलि सोई"....के अनुरूप ही अपने ज्ञान की सुरसरि अपने उदार व्यक्तित्व से प्रबुद्ध और साधारण सभी प्रकार के जन-सामान्य में प्रवाहित करके "बुध विश्राम" के साथ-साथ सकल जन रंजनी बनाने में आप यत्नरत हैं। मानस सागर में बिखरे हुए विभिन्न रत्नों को संजोकर आपने अनेक आभूषण रूपी ग्रंथों की सृष्टि की है। मानस-मन्थन, मानस-चिन्तन, मानस-दर्पण, मानस-मुक्तावली, मानस-चरितावली जैसी आपकी अनेकानेक अमृतमयी अमर कृतियाँ हैं जो दिगदिगान्तर तक प्रचलित रहेंगी। आज भी वह लाखों लोगों को रामकथा का अनुपम पियुष वितरण कर रही हैं और भविष्य में भी अनुप्राणित एवं प्रेरित करती रहेंगी। तदुपरान्त विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के भी आप अध्यक्ष हैं।

निष्कर्षतः आप अपने प्रवचन, लेखन और शिष्य परम्परा द्वारा जिस रामकथा पियुष का मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, वह जन-जन के तप्त एवं शुष्क मानस में नवशक्ति का सिंचन कर रही है, शान्ति प्रदान कर रही है, समाज में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना जागृत कर रही है।

अतः परमपूज्य महाराज श्री का स्वर उसी वंशी के समान है, जो "स्वर सन्धान" कर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती है। वंशी में भगवान का स्वर ही गूंजता है उसका कोई अपना स्वर नहीं होता। परमपूज्य महाराज श्री भी एक ऐसी वंशी हैं, जिसमें भगवान के स्वर का स्पन्दन होता है। साथ-साथ उनकी वाणी के तर्कश से निकले, वे तीक्ष्ण विवेक के बाण अज्ञान-मोह-जन्य पीड़ित जीवों की भ्रान्तियों, दुर्वृत्तियों एवं दोषों का संहार करते हैं। यों आप श्रद्धा और भक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करते हुए महान लोक कल्याणकारी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

शुभम्

प्रभु की शरण में—
—मंदाकिनी

अनुक्रमणिका

प्रवचन-१

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।
त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥ ७/१२०/२८-३७

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥ ७/१२१ (क)
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥" (ख)

भगवान् श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा से पुनः इस वर्ष यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि इस पवित्र आश्रम के प्रांगण में एकत्र होकर 'मानस' की कुछ चर्चा की जा सके। प्रति वर्ष श्री विवेकानन्द जी महाराज की जयन्ती के अवसर पर आदरणीय स्वामी जी महाराज मेरा स्मरण करते हैं और इस अवसर पर यहाँ आकर मुझे बड़ा सन्तोष मिलता है, प्रसन्नता मिलती है तथा यहाँ के

आध्यात्मिक वातावरण से मैं स्वतः बड़ा प्रभावित होता हूँ। इसलिए कितनी भी कठिनाई क्यों न हो, मैं यही चेष्टा करता हूँ कि यहाँ पर उपस्थित हो सकूँ। आदरणीय स्वामी जी ने इस बार भी स्मरण किया और पुनः हम लोग यहाँ पर एकत्र हुए हैं। प्रसंग के विषय में आप उनके मुख से सुन ही चुके हैं। कई वर्षों से यहाँ सप्त प्रश्नों की चर्चा चलती रही है और उन सप्त प्रश्नों में जो अन्तिम प्रश्न मानस-रोग को लेकर है, उसकी व्याख्या पिछले वर्ष प्रारम्भ हुई थी। वैसे तो मानस-रोगों का प्रसंग कोई बहुत सरस प्रसंग नहीं है, वह भावना-प्रधान न होकर विचार और विश्लेषण-प्रधान है। अतः उसके साथ न्याय करने के लिए कुछ गम्भीर रूप से चर्चा करने की आवश्यकता होती है। अभी कुछ महीने पहले जब प्रयाग में कथा का आयोजन किया गया था, उसमें जब मैंने प्रसंग के विषय में जिज्ञासा की, तो वहाँ अनुरोध किया गया कि मैं मानस-रोग की व्याख्या करूँ। यह प्रेरणा उन्हें आश्रम के प्रवचनों को टेप-रिकार्डर से सुनकर मिली थी। इस प्रकार यही प्रसंग वहाँ भी रखा गया। उन्होंने यह अवश्य कहा कि मैं शायद वहाँ पर विषय को कुछ सरल ढंग से रखने की चेष्टा कर रहा हूँ। अतः उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि रायपुर में जिस स्तर पर इसकी व्याख्या की गयी है, उसी स्तर पर यहाँ भी प्रस्तुति की जाय। अब यह बात इस स्थान के लिए और आप लोगों की आध्यात्मिक वृत्ति के लिए प्रशंसासूचक हो सकती है। अतएव मैं आशा करता हूँ कि यदि विषय कुछ नीरस भी हो, तो भी उसे आप पूरी एकाग्रता से सुनेंगे।

सारी रामकथा समाप्त करने के बाद अन्त में काकभुशुण्डि जी गरुड़ से पूछते हैं कि मैंने आपको आपकी जिज्ञासा के उत्तर में रामकथा सुनायी, क्या आप कुछ और भी सुनना चाहते है? और तब जो कुछ होता है, वह बड़ी विचित्र-सी बात प्रतीत होती है। वैसे साधारणतया भोजन के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके अन्त में लोग बहुधा मीठी वस्तु लेते हैं; प्रसिद्ध वाक्य भी है—'मधुरेण समापयेत्'। इस दृष्टि से देखें तो रामकथा से बढ़कर कोई मधुर वस्तु हो ही नहीं सकती। अतः रामकथा से ही यदि 'रामचरितमानस' की समाप्ति हुई होती, तो यही लगता कि 'मधुरेण समापयेत्' की परम्परा की रक्षा करते हुए ही मीठी रामकथा से इसे समाप्त किया गया है। लेकिन ऐसा नहीं है। रामकथा सुनने के बाद भी गरुड़ के मन में कुछ जिज्ञासा शेष थी, उनमें कुछ जानने की इच्छा थी और उनकी वही जिज्ञासा सप्त प्रश्नों के रूप में हमारे सामने आती है। इनमें से अन्तिम प्रश्न में उन्होंने मानस-रोग के सन्दर्भ में प्रश्न किया। वे जानना चाहते थे कि मानस-रोगों का स्वरूप क्या है। अब रोग तो कोई ऐसी वस्तु है नहीं, जो किसी को प्रिय लगे। रोगी की स्थिति भी

प्रेरक नहीं होती है, वह तो पीड़ा से, अस्वस्थता से कराह रहा होता है। तो गरुड़ जी के अनुरोध से काकभुशुण्डि जी मानस-रोगों का विश्लेषण तो करते ही हैं, पर उसी से वे रामकथा की समाप्ति नहीं करते, अपितु मानस-रोगों की औषध का भी वर्णन करते हैं और उसके पश्चात् रामकथा समाप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रामकथा में अनेक गुण विद्यमान हैं। पर वस्तुतः रामकथा का उद्देश्य क्या है? वैसे तो मनोरंजन की दृष्टि से भी रामकथा कही-और सुनी जाती है। अगर अन्य मनोरंजनों के स्थान पर हम रामकथा से मनोरंजन प्राप्त करते हैं, तो यह कोई निन्दा की नहीं, प्रशंसा की ही बात है। गोस्वामी जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक विषयी व्यक्ति जब रामकथा को सुनता है तो—

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुनग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७/५२/४.

—उसके कानों को वह बड़ी प्रिय लगती है, उसके मन को सुख प्राप्त होता है। लेकिन रामकथा का उद्देश्य केवल मन तक ही सीमित नहीं है। उसे हम यों कह सकते हैं कि सुनने के मुख्य रूप से तीन माध्यम हैं—मन, बुद्धि और चित्त। फिर संसार में व्यक्ति भी तीन प्रकार के होते हैं—

बिषई साधक सिद्ध सयाने।
त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥ २/२७६/३

—विषयी, साधक और सिद्ध। विषयी मुख्य रूप से मन के माध्यम से सुनता है। पर साधक केवल मन का ही प्रयोग नहीं करता, अपितु उसके साथ-साथ अपनी बुद्धि के माध्यम से रामकथा को ग्रहण करता है। और जो सिद्ध व्यक्ति है, उसके लिए रामकथा केवल मन और बुद्धि का विषय नहीं है, वह तो चित्त से रामकथा के साथ एकाकार होकर, तन्मय होकर, तदाकार होकर साक्षात् कथा का ही रूप बन जाता है। इस तरह कह सकते हैं कि रामकथा विषयी, साधक और सिद्ध के लिए क्रमशः उत्कृष्ट से उत्कृष्टतम रूप में सामने आती है। यदि रामकथा को केवल मनोरंजन के रूप में ग्रहण किया जाय तो व्यक्ति को उससे तत्काल आनन्द की अनुभूति तो होगी, पर उसके जीवन में समस्याओं का समाधान नहीं होगा। अब ऐसी क्षणिक आनन्द की अनुभूति तो जितने मनोरंजन होते हैं, उन सब में होती है। उतनी देर के लिए व्यक्ति अन्य बातों को भूलकर मनोरंजन में खो जाता है। पर उस मनोरंजन का वास्तविक लाभ तो तब है, जब वहाँ से उठने के बाद भी व्यक्ति अस्वस्थता का अनुभव न कर अपने आपको स्वस्थ अनुभव करे। तो, यहाँ पर रामकथा की समाप्ति का जो क्रम है, उसमें मन, बुद्धि और चित्त, इन तीनों के स्तर लिये गये हैं।

इस क्रम में पहले यह दर्शाया गया है कि व्यक्ति का मन रुग्ण है, अस्वस्थ है। जब कोई व्यक्ति अस्वस्थ होता है, तो उसके घर में कितनी भी समृद्धि और सुविधा क्यों न हो, उसे चैन नहीं मिलता है, इसी प्रकार व्यक्ति बाह्य दृष्टि से चाहे कितना भी उन्नत क्यों न हो, लेकिन यदि वह अन्तर्मन की दृष्टि से अस्वस्थ है, तो किसी प्रकार से सच्ची शान्ति का, सच्ची समाधि का अनुभव नहीं कर सकता। यही कारण है कि गोस्वामी जी यह सोचकर कि कथा की समाप्ति केवल मनोरंजन से न हो जाय, अन्त में मन के रोगों और उनकी चिकित्सा का वर्णन करते हैं, जिससे हम रामकथा को अपने जीवन से जोड़ सकें और उसके माध्यम से अपनी मानसिक अस्वस्थता को, मानसिक रोगों को दूर कर सकें। इस दृष्टि से मानस-रोग का प्रसंग मधुर न होते हुए भी बड़ा प्रेरक है और मनुष्य के अन्तर्मन का बड़ा अच्छा चित्र उपस्थित करता है। इस पर पिछले वर्ष कथा-प्रसंग चल चुका है।

वैसे तो मैं याद नहीं रख पाता कि पिछले वर्ष विवेचन कहाँ तक हुआ है, पर जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, गोस्वामी जी की इस चौपाई में—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ७/१२०/३०

—आये हुए काम और लोभ की व्याख्या की गयी थी। अतः आज से हम क्रोध-पित्त की व्याख्या प्रारम्भ करेंगे। लेकिन इसके पहले मैं इसकी भूमिका की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। इस प्रसंग में एक विलक्षणता है। वह यह कि जितने दुर्गुण हैं, उनकी तुलना किसी-न-किसी रोग से की गयी है, जैसे कहा गया है कि काम वात है, क्रोध पित्त है, लोभ कफ है, अहंकार डमरुआ है, दम्भ-कपट-मद मान नहरुआ है, तृष्णा उदर-वृद्धि (जलोदर) है तथा मनुष्य के अन्तःकरण में जो तीन प्रकार (पुत्र, धन और मान) की इच्छाएँ हैं, वे तिजारी ज्वर हैं, पर विचित्रता यह है कि इस वर्णन के प्रारम्भ में एक दुर्गुण का नाम तो लिया गया, किन्तु उसकी किसी रोग से तुलना नहीं की गयी। मानस-रोगों का वर्णन प्रारम्भ करते समय पहली पंक्ति यह आती है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ६/१२०/२६

—अर्थात् वह मोह ही है, जो सारे मानस-रोगों के मूल में विद्यमान है। तो, यहाँ पर काकभुशुण्डि जी मोह को व्याधियों का मूल तो बताते हैं, लेकिन वे अन्तर्मन के इस दुर्गुण से अन्य किसी शारीरिक रोग की तुलना नहीं करते, मात्र यह कहकर वे आगे बढ़ जाते हैं कि यह मोह ही समस्त व्याधियों के मूल

में है। अब भले ही गोस्वामी जी ने इस मोह की तुलना शरीर के किसी रोग या दोष से न की हो, पर वे इसकी व्याख्या विविध दृष्टान्तों के माध्यम से करते हैं। रामायण का एक प्रसंग तो मोह की बड़ी ही सांकेतिक व्याख्या करता है, और वह है देवर्षि नारद का प्रसंग। वैसे देवर्षि नारद का जो चरित्र है, उसमें अनेक मानस-रोगों का वर्णन किया गया है, यह भी बताया गया है कि देवर्षि नारद के मन में तीव्र काम का उदय हुआ—

जप तप कछु न होइ तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥ १/१३०/८

ऐसा भी वर्णन आता है कि उनमें तीव्र क्रोध का उदय हो गया—

फरकत अधर कोप मन माहीं। १/१३५/२

फिर यह तो कहा ही गया है कि उनमें काम पर विजय के पश्चात् अहंकार उत्पन्न हो गया था—

जिता काम अहमिति मन माहीं १/१२६/५

इस प्रकार नारद काम से ग्रस्त हैं, क्रोध से ग्रस्त हैं, लोभ से ग्रस्त हैं, अहंकार से ग्रस्त हैं। लेकिन विचित्रता क्या है? इस प्रसंग को रामायण में किस नाम से प्रस्तुत किया गया है? कहा तो यह भी जा सकता था—

'पुनि नारद कर काम अपारा'
या, 'पुनि नारद कर क्रोध अपारा'
अथवा 'पुनि नारद कर अहं अपारा।'

पर ऐसा न कह गोस्वामी जी लिखते हैं—

पुनि नारद कर मोह अपारा। ७/६३/८

काकभुशुण्डि जी कथा सुनाते हुए नारद के मोह का वर्णन करते हैं। और ठीक यही शब्द पार्वती और शंकर जी के संवाद में आता है। जब शंकर जी नारद का चरित्र पार्वती को सुनाते हैं, तो वे यह नहीं कहतीं कि नारद जी के मन में अहंकार कैसे आ गया, बल्कि कहती हैं—

मुनि मन मोह आचरज भारी। (१/१२३।८)

—देवर्षि नारद के मन में मोह कैसे उत्पन्न हो गया, इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार इस नारद-प्रसंग को नारद-मोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे यों समझें। शरीर में जितने रोग होते हैं, उनके मूल में किसी-न-किसी प्रकार का कुपथ्य होता है। अधिकांशतः व्यक्ति यह जानता है कि मुझे यह भोजन नहीं करना चाहिए, इस समय ऐसा करने से मैं रोगग्रस्त हो जाऊँगा। पर जब व्यक्ति उस ज्ञान का अनादर कर उसके प्रतिकूल आचरण करता है, तो अस्वस्थ हो जाता है। तो, जिस वृत्ति के कारण शरीर में रोग उत्पन्न होता

है, वह कुपथ्य है तथा कुपथ्य के मूल में जानते हुए भी विपरीत आचरण करने की जो वृत्ति है, उसका नाम है मोह। इसीलिए मोह को 'चित्त का विपर्यय' कहा गया है। यही कारण है कि रामायण में मोह को अज्ञान का प्रतीक या पर्यायवाची नहीं माना गया है। अज्ञान का तो अर्थ है न जानना, पर मोह में ज्ञान के होते हुए भी उसका तिरस्करण है। तो, मोह को समझाने के लिए नारद जी का प्रसंग लिया गया, क्योंकि नारद जी से अधिक जाननेवाला, उनसे बढ़कर आध्यात्मिक सत्य को समझनेवाला और कौन हो सकता था ?

किसी ने मुझसे कहा—नारद को जब अहंकार हो गया, तो भगवान् भाषण दे देते कि अहंकार कितना बुरा है और यह कह देते कि नारद, तुम्हें अहंकार नहीं करना चाहिए। इस पर मैंने कहा—भाई, जो न जाने, उसके सामने भाषण देने में कुछ सार्थकता है। क्या नारद को यह पता नहीं कि अहंकार में कितनी बुराई है ? क्या भगवान् कहेंगे तभी नारद को यह समझ में आएगा कि अहंकार करना बुरा है ? नारद यह सब जानते हैं। इसीलिए भगवान् ने नारद को समझाने की चेष्टा नहीं की, क्योंकि वे जानते हैं कि शंकर जी द्वारा नारद को समझाकर उनके अन्तर्मन की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की जा चुकी है, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। भगवान् विष्णु ने समझ लिया कि केवल वाणी के द्वारा, प्रवचन के द्वारा, विश्लेषण के द्वारा उनके अन्तर्मन की समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता।

पहली बात देखिए। कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि मैं बीमार पड़ूँ। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थता चाहता है। जैसे वह शरीर की स्वस्थता चाहता है, वैसे ही मन की भी। पर चाहते हुए भी वह अस्वस्थ हो जाता है। इसका कारण क्या है ? भगवान् श्रीकृष्ण गीता में एक भिन्न रूप में इसका कारण प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन के मन में जिज्ञासा आयी कि जो व्यक्ति बुराई से, पाप से बचना चाहता है, जो समझता है कि पाप बुरी वस्तु है, त्याज्य है, वह न चाहने पर भी बुराई की दिशा में क्योंकर अग्रसर होता है ? उसे जबरन बुराई की ओर कौन ठेल देता है ?—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३/३६

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः (३/३७)

—वह मनुष्य के मन में रजोगण से उत्पन्न होने वाला काम है, क्रोध है, जो उसे दुर्गुणों की ओर ले जाता है। 'मानस' में इस प्रश्न का उत्तर एक भिन्न प्रकार से दिया गया है। यहाँ कहा गया है कि काम-क्रोध के भी मूल में व्यक्ति

का मोह विद्यमान है। और मोह ऐसा है, जिसे पैदा करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। 'मानस' में इसे समझाने के लिए एक सार्थक दृष्टान्त दिया गया है। किसान अन्न पैदा करने के लिए खेत को जोतता है, उसमें बीज डालता है और उसकी सिंचाई करता है या फिर आकाश से जल बरसता है। किसान अपनी इस क्रिया के द्वारा खेत से अन्न ही लेना चाहता है, पर उसका प्रतिवर्ष का अनुभव यह बताता है कि वह कितना भी बढ़िया खेत क्यों न जोते और उसमें कितने ही उत्तम बीज क्यों न डाले, अन्न के पौधे उगने के साथ-साथ वहाँ घास के भी पौधे उग आते हैं। अब कोई किसान घास की खेती थोड़े ही करता है ? कोई नहीं चाहता कि मेरे खेत में घास पैदा हो। वह तो धान या गेहूँ ही चाहता है। लेकिन विचित्र बात यह है कि जिस जल के द्वारा वांछित अन्न बढ़ता है, उसी जल के द्वारा उस पृथ्वी में अवांछित घास भी बढ़ती है। अन्न तो किसान ने ऊपर से डाला, फिर घास कहाँ से आ गयी ? इसका उत्तर यह है कि घास पहले से ही पृथ्वी में बीज के रूप में विद्यमान है। यही स्थिति हमारे-आपके अन्तःकरण की है। कुछ बीज तो ऐसे हैं, जिन्हें हम और आप इस समय अपने अन्तःकरण में डालने की चेष्टा कर रहे हैं। पर कुछ बीज ऐसे हैं, जो पूर्व-पूर्व जन्मों से संस्कार के रूप में विद्यमान हैं। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हैं। वे 'मोह' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि
कोटिहु जतन न जाई। (८२)

—बड़ा यत्न करने पर भी व्यक्ति मोहजनित मल से छूट नहीं पा रहा है। इस पर पूछा गया कि ऐसा क्यों होता है ? जब अभ्यास कर रहा है, तब तो छूट जाना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—

जनम जनम अभ्यास-निरत चित,
अधिक अधिक लपटाई (८२)

—जन्म-जन्म के अभ्यास से हमारे अन्तःकरण में जो संस्कार बीज के रूप में पहले से ही विद्यमान हैं, उनसे यह मल अधिकाधिक लिपटता ही चला जाता है। जैसे हम और आप सत्संग में जाते हैं और कुछ अच्छी बातें सुनते हैं, अच्छे विचार के बीज मन में डालते हैं। ये बीज अन्तःकरण में अच्छे संस्कार के रूप में प्रकट होते हैं। लेकिन इनके साथ ही जन्म-जन्मान्तरों के बुरे विचारों के बीज भी वहाँ छिपे हुए हैं और वे भी अवसर मिलते ही अनजाने में प्रकट हो जाते हैं। धान और घास के पौधे देखने में बिलकुल एक जैसे हरे-हरे दिखाई पड़ते हैं। इसलिए घास निकालनेवाले को यह सावधानी रखनी पड़ती है कि

कहीं धान का पौधा न उखड़ जाय और यह भी कि धान की आड़ में कोई घास का पौधा छिपा न रह जाय। अब यह तो सबसे कठिन कार्य है। 'मानस' में जो 'निराना' शब्द आया है, उसका यही अर्थ होता है। भगवान् राम लक्ष्मण से कहते हैं कि साधक यदि सावधान न हो, तो उसके अन्त:करण में सद्‌विचारों के बीज के साथ-साथ घास-फूस भी अंकुरित हो जाता है। अब यदि किसी खेत में घास बहुत अधिक मात्रा में उपज जाय तो वह खाद और जल का अपनी बढ़त के लिए उपयोग कर धान की जीवनी-शक्ति का ही शोषण कर लेगी। परिणाम यह होगा कि या तो धान उपजेगा ही नहीं या फिर नाम मात्र को उपजेगा, उसकी सारी शक्ति घास को मिल जाएगी। आलसी और निष्क्रिय किसान सोचता है कि कौन इतना परिश्रम करे, पर चतुर किसान घास को निकालने के लिए डट जाता है। वह अपने इस काम के लिए कोई फावड़ा या बड़ा अस्त्र नहीं लेता। वह तो नन्हीं-सी खुरपी लेकर एक-एक पौधे के आस-पास बड़े ध्यान से देखता हुआ घास और धान का भेद करता है तथा घास को काटता चलता है। इसको 'निराना' कहते हैं। भगवान् राम कहते हैं कि लक्ष्मण, इसी प्रकार साधक जब अपने जीवन में सत्कर्म की खेती करता है, तब उसकी बगल में ही पूर्व-पूर्व जन्मों के उसके अन्त:करण में छिपे हुए संस्कार भी अंकुरित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में उसकी सावधानी यह होनी चाहिए कि वह बुरे संस्कारों के पौधों को खुरपी से उसी प्रकार निराते हुए चले, जैसे विद्वान् लोग मोह, मद और मान का त्याग कर देते हैं—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥ ४/१४/८

यह मोह, मद, मान ऐसा है, जिसका बीज इस जन्म में न डालने पर भी वह पूर्व-पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों के फलस्वरूप अंकुरित होता रहता है। ऐसी परिस्थिति में सजग रहकर देखना पड़ेगा कि जो धान है, वह तो सत्संग के जल से वृद्धिगत हो, पर उसके साथ, उसकी बगल में उगनेवाली घास काट ली जाय। नारदजी के चरित्र में हम देखते हैं कि बीज तो उन्होंने बहुत बढ़िया डाला और खेती हरी-भरी हो गयी। पर उन्होने जो नहीं उपजाना चाहा था, वह भी उपज आया। किन्तु वे उसे काटने की चेष्टा नहीं करते। तब भगवान् सोचते हैं कि ये तो इतने निष्क्रिय हो गये हैं कि मुझे ही कटाई-निराई करनी पड़ेगी, भले ही इनको कष्ट हो। यही नारदजी के चरित्र की विडम्बना है।

पुराणों में उनके अगणित जन्मों का प्रसंग आता है। उन्होंने जीवन का अनेक रूपों में अनुभव किया है और वे अनुभव उनके अन्तर्मन में कहीं न कहीं संस्कार के रूप में विद्यमान हैं। हम 'मानस' में पढ़ते हैं कि नारद हिमालय की उपत्यका में जाते हैं और जब वहाँ का वातावरण देखते हैं कि झरना झर रहा है, बड़ी सुन्दर सुशीतल वायु बह रही है, चारों तरफ हरियाली है, तो उन्हें लगता है कि वह भगवान् का ध्यान करने के लिए बड़ा अनुकूल है। वे वहाँ की एक गुहा में बैठकर ध्यान में तल्लीन हो जाते हैं—

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि।
बह समीप सुरसरी सुहावनि॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा।
देखि देवरिषि अति मन भावा॥
निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा।
भयउ रमापति पद अनुरागा॥ २/१२४/१-३

आप यह जानते होंगे कि नारद को दक्षप्रजापति ने शाप दिया था कि तुम दो घड़ी से अधिक कहीं नहीं ठहर पाओगे। ब्रह्मा ने दक्ष को सृष्टि का विस्तार करने की आज्ञा दी थी। दक्ष के पुत्र जब कुछ बड़े होते, तब नारद वहाँ पहुँच जाते और उनको ऐसा सत्संग प्रदान करते कि वे लोग घर-बार छोड़कर वन में चले जाते थे। दक्ष ने जब देखा कि यह तो बार-बार मेरी चेष्टा विफल कर रहा है, तब एक दिन बिगड़कर नारद से कहा—तुम लड़कों को बिगाड़ते हो, इसलिए तुम्हारा कहीं पर बहुत देर तक रहना बड़ा घातक है, अतएव मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अधिक देर कहीं ठहर नहीं पाओगे। पर इस शाप से नारद की कोई हानि नहीं हुई, बल्कि लाभ ही हुआ; क्योंकि घूमते रहने से अधिकाधिक लोगों की समस्याओं से उनका परिचय होता गया और वे उनके दुःखों को दूर करने में प्रयत्नशील होते रहे। पर आज उनके अन्त:करण में अन्तर्मुखता की वृत्ति आ गयी और वे बैठकर ध्यान में लीन हो गये। फलस्वरूप प्रजापति का शाप व्यर्थ चला गया, क्योंकि शाप तो तब कार्य करता, जब नारद देह और काल की सीमा में होते। वे तो ध्यान में बैठकर देश-काल और व्यक्तित्व की सीमा से ऊपर उठ गये थे। इसका अर्थ यह है कि यदि ध्यान में बैठने पर भी यह याद बनी रहे कि मैं कहाँ बैठा हुआ हूँ, कितना समय हुआ है, मैं कौन हूँ, तो समझ लेना चाहिए कि ध्यान बिलकुल अधूरा है। उदाहरणार्थ, जब यह कहते हैं कि ध्यान कीजिए कि अयोध्या नगर में सरयू बह रही हैं, सरयू जी के किनारे एक कल्पतरु है, कल्पतरु के नीचे एक सिंहासन है और उस सिंहासन पर भगवान् राम और सीता बैठे हुए हैं, तब यदि व्यक्ति देश के प्रति सजग होगा, तो उसे लगेगा कि नहीं, मैं तो इस शहर में ही बैठा हुआ हूँ। वह अयोध्या या वृन्दावन या उस देश की भावना नहीं

कर पाएगा, जहाँ का वह ध्यान करना चाहता है। फलस्वरूप उसमें तन्मयता नहीं आ पाएगी। इसी प्रकार जब काल का चिन्तन करेगा, तब भी उसे दूरी की अनुभूति होगी। उसे लगेगा कि भगवान् का अवतार तो कितना पहले हुआ था, अतः हमारे और उनके काल में बड़ी दूरी है। अब राम भला कहाँ हैं, कृष्ण कहाँ हैं! इसका परिणाम यह होगा कि उसको सच्चा ध्यान नहीं लग पाएगा। इसी प्रकार सच्चे ध्यान के लिए व्यक्तित्व की सीमा को भी लाँघना पड़ता है। जैसे भगवान का ध्यान करता हुआ व्यक्ति अपने आपको कुछ न कुछ करता हुआ पाता है। भक्त ध्यान करता हुआ देखता है कि वह माला गूँथकर भगवान् को पहना रहा है। अब वह अपने आपको जिस शरीर से माला पहनाता हुआ देखता है, वह स्थूल शरीर तो है नहीं, वह तो उसका भावनात्मक शरीर है। ऐसी स्थिति में अगर उसका स्थूल शरीर ही उसके चिन्तन में आता रहा, तो वह सच्ची तन्मयता प्राप्त नहीं कर सकेगा। नारद ने देश, काल और व्यक्तित्व, इन तीनों से मुक्ति प्राप्त कर ली। फलस्वरूप दक्षप्रजापति ने उन्हें जो शाप दिया था, उसका कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि वे न तो किसी स्थान में बैठे थे, न किसी काल में थे और न व्यक्तित्व की ही सीमा में थे। वे पूरी तरह दिव्य मनःस्थित में थे। लेकिन स्वर्ग में बैठे हुए इन्द्र के मन में भय पैदा हो गया कि नारद कहीं स्वर्ग पर अधिकार करने के लिए तो तपस्या नहीं कर रहे हैं। और वह ऐसा सोच उनकी तपस्या भंग करने की चेष्टा में लग जाता है।

यहाँ पर गोस्वामी जी एक बड़े महत्त्व की मनोवैज्ञानिक बात बताते हैं। वैसे लगता तो यही है कि दुर्गुणों की ओर से व्यक्ति के जीवन में बाधा आती है, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी दिखाई देता है कि दुर्गुण और सद्गुण मिलकर साधक के जीवन में बाधा की सृष्टि कर रहे हैं। नारद के जीवन में इसी दूसरे तथ्य की ओर संकेत किया गया है। नारद की तपस्या को भंग करने की वृत्ति किसी राक्षस या दैत्य के मन में नहीं आती, वह आती है इन्द्र के मन में। और इन्द्र कौन है? सबसे बड़ा पुण्यात्मा। सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला ही इन्द्र का पद प्राप्त करता है। तो, ऐसा इन्द्र जो स्वयं सत्कर्म करने वाला है, जब दूसरे को सत्कर्म से विरत करने की चेष्टा करता है, तब यह बात बड़ी अटपटी-सी मालूम पड़ती है। पर यही समाज का सत्य है और जीवन का भी। अच्छे काम में बाधा केवल बुरे लोग ही नहीं डालते, कभी-कभी अच्छे लोग भी डालते हैं। यह तब होता है, जब उनके मन में ईर्षा उत्पन्न होती है कि कहीं वह मुझसे बढ़िया काम न कर दे। अच्छा कहलाने वाले ऐसे ईर्षालु व्यक्ति भोगपरायण होते हैं। वे सत्कर्म के

बदले कुछ पाना चाहते हैं। उनके मन में यही चिन्ता रहती है कि बँटवारे में सब मुझे ही मिले, दूसरों को कुछ न मिल पाए।

तुलसीदास जी से किसी ने पूछ दिया कि स्वर्ग में जाकर मनुष्य तो दुर्गुणों से मुक्त हो जाता होगा? उत्तर में गोस्वामी जी ने व्यंग्य करते हुए कहा—और दुर्गुण चाहे कम हो जाएँ, पर वहाँ जाकर एक दुर्गुण बढ़ जाता है और वह है ईर्षा। वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं—'स्वर्गहु मिटइ न सावत' —स्वर्ग में सौतियाडाह नहीं मिटती, ईर्षा नहीं मिटती। अब नारद हैं त्यागी और इन्द्र है भोगी। और विचित्रता यह है कि त्याग और भोग दोनों ही पुण्य के फल हैं। पुण्य से व्यक्ति को भोग भी प्राप्त हो सकता है और वैराग्य भी। चुनाव तो व्यक्ति को करना है। देवर्षि नारद तो पुण्य के द्वारा वैराग्य पाने के पक्ष में हैं, पर इन्द्र के मन में भय उत्पन्न होता है कि कहीं ये मेरे स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही तो तपस्या नहीं कर रहे हैं। इन्द्र अपने माप-दण्ड से नारद जी को नापता है। उसे लगता है कि हमने इतना सत्कर्म करके स्वर्ग प्राप्त किया, नारद भी निश्चय ही स्वर्ग पाने के लिए ही तपस्या कर रहे होंगे। और तब यहाँ पर दुर्गुण के साथ देवता का एक अनोखा समझौता हो जाता है। इन्द्र काम को बुलाकर कहता है—

सहित सहाय जाहु मम हेतू। (४/१२४/६)

—तुम अपने सहायकों सहित जाओ और नारद को ध्यान से विरत करने की चेष्टा करो।

काम अप्सराओं को लेकर नारद के पास आता है, पर उनके मन पर अप्सराओं के मोहक हाव-भाव, नृत्य आदि का रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ता। वे शान्त भाव से बैठे रहते हैं। यह देख काम के मन में भय उत्पन्न होता है कि कहीं मुनि क्रोध करके मुझे भस्म न कर दें। नारद शान्त भाव से काम को देखते हैं। काम डर के मारे उनके चरणों में आ गिरता है और कहता है—महाराज, मैंने जो कुछ किया है, वह इन्द्र के कहने से किया है। काम के कथन का अर्थ यही है कि यदि दण्ड देना हो तो इन्द्र को दीजिएगा, मुझे नहीं। यही व्यक्ति के जीवन की विडम्बना है। अभी तक तो काम इन्द्र का सहयोगी बना हुआ था, और अब जब अपने उद्यम में असफल हो गया, तब कहता है कि मैंने यह अपनी इच्छा से नहीं किया है! फिर भी नारद को क्रोध नहीं आया और उन्होंने मुसकराकर काम से कहा—तुम इन्द्र से जाकर कह देना कि मेरे अन्तःकरण में स्वर्ग का कोई लोभ नहीं है, वह आनन्द से स्वर्ग के भोगों को भोगे, राज्य करे। काम नारद के चरणों में प्रणाम करके चला गया। लेकिन एक विचित्र बात हो गयी। अभी नारद के जीवन में सद्विचारों की, सत्कर्मों

को, साधना की इतनी बढ़िया खेती हुई थी, पर अब उसकी बगल में घास उग आयी और नारद उस घास को अनदेखा कर देते हैं, घास को पहचान नहीं कर पाते हैं। यही नारद की समस्या है। रोग तब होता है, जब रोगी कुपथ्य करता है। नारद ने सारी इन्द्रियों से तो कुपथ्य रोक दिया, पर एक इन्द्रिय से कुपथ्य हो गया। अप्सराओं का सौन्दर्य सामने आया, तो नेत्र से रंचमात्र कुपथ्य नहीं किया, उस पर दृष्टि तक न डाली। वहाँ पर जब अप्सराओं ने दिव्य सुगन्ध की सृष्टि की, तो नासिका के द्वारा भी उन्होंने कुपथ्य नहीं किया। जिह्वा के माध्यम से भी नारद किसी वस्तु का कुपथ्य करनेवाले थे नहीं। स्पर्श-सुख को त्यागकर त्वचा का भी उन्होंने कुपथ्य नहीं किया। पर एक कुपथ्य से वे बच नहीं पाये। वैसे उससे बच पाना है भी कठिन। वह कुपथ्य श्रवणेन्द्रिय का था। आँख, नाक और जिह्वा से कुपथ्य रोकना सरल है, पर कान का कुपथ्य ऐसा प्रिय लगता है कि बड़े-बड़े त्यागी पुरुष भी इस कुपथ्य से बच नहीं पाते। यह कान का कुपथ्य क्या था? जब काम जाने लगा तो जाते-जाते एक बात नारद के कान में कहता गया और नारद जी ने बड़े प्रेम से उसे भीतर ले लिया। काम कहता गया—महाराज! विश्व के इतिहास में आपसे बढ़कर कोई महापुरुष हुआ ही नहीं! बस, त्योंही प्रशंसा का कुपथ्य नारद के कान में पैठ गया और उनके अन्तःकरण में घास अंकुरित हो गयी। चाहे उसे अहंकार की घास कह लीजिए, चाहे मोह की।

हम लोगों के यहाँ यह माना जाता है कि जो जैसा भोजन करता है, उसका मन वैसा बन जाता है, इसलिए भोजन को शुद्ध होना चाहिए। अब भोजन की शुद्धि के लिए अनेक पद्धतियों का वर्णन किया गया है, लेकिन कितनी भी चेष्टा की जाय, व्यक्ति यह कैसे दावा कर सकता है कि वह जो कुछ खा रहा है, वह शुद्ध ही है? ऐसी स्थिति में हमारे यहाँ के भक्तों ने जिस मार्ग का अनुगमन किया, वह बड़ा कल्याणकारी है। भक्त को जब अन्न दिया जाता है, तब वह पहले भगवान् को भोग लगाता है और तत्पश्चात् दूसरों को प्रसाद बाँटकर स्वयं खाता है। तो, सामान्य भोजन को तो बहुत से लोग भोग लगाकर ग्रहण करते हैं, पर प्रशंसा के भोजन का भोग लगाना भूल जाते हैं। प्रशंसा का व्यंजन ऐसा होता है, जो व्यक्ति के जीवन में अहंकार की सृष्टि करता है। हम जब भी अपनी प्रशंसा सुनेंगे, अहंकार होने का भय बना ही रहेगा। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई हमारी प्रशंसा करे ही न। किसी को प्रशंसा करने से रोका नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में उपाय क्या है?—यही कि उस प्रशंसा को भगवान् को समर्पित कर दिया जाय और उसे बाँट दिया जाय। जब भी कानों में प्रशंसा आवे, उसे तुरन्त भगवान् को निवेदित कर

दें। नारद ने भी ऐसा किया, लेकिन बहुत देर बाद। नियम यह है कि पहले भोग लगा लें, तब भोजन करें। पर नारद जी तो पहले भोजन कर लेते हैं और बाद में जब थोड़ी सी जूठन बच रहती है, तब भगवान् को भोग लगाते हैं। वे क्रम को उलट देते हैं। रामायण में जो चतुर पात्र हैं, उनको यदि प्रशंसा परोसी जाय, तो वे तुरन्त भगवान् को परोस देते हैं। भगवान् ने भरत जी के सामने प्रशंसा की लम्बी थाल परोस दी, बोले—

> **तीनि काल तिभुअन मत मोरें।**
> **पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥**
> **उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई।**
> **जाइ लोकु परलोकु नसाई॥ २/२६२/६-७**
> **मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।**
> **लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥ २/२६३**

कितना बड़ा था प्रशंसा का व्यंजन और परोसनेवाले थे साक्षात् भगवान्! लेकिन भरत जी ने भगवान् को उसका भोग लगा दिया। भगवान् ने पूछा, "भरत, यह बताओ मैं जो कह रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं? मेरी दृष्टि पर तुम्हें विश्वास है या नहीं?" भरत जी बोले, "प्रभु, मैं आपकी दृष्टि पर विश्वास कैसे न करूँ? जब आप कह रहे हैं, तब अवश्य होगा।"

"अब तो अपनी निन्दा नहीं करोगे? अपने को पापी नहीं कहोगे?"

भरत जी ने कहा, "नहीं महाराज, मैं जानता हूँ, आपके सामने एक समस्या है।"

"वह क्या?"

"यह कि दोष तो आप देख ही नहीं पाते। इसलिए मेरे दोष आपको दिखाई नहीं देते हैं तो वह ठीक ही है।"

भगवान् ने पूछा, "अच्छा, दोष देखना यदि मुझे नहीं आता तो गुण देखना तो आता है?"

भरत जी बोले, "महराज, गुण देखना आपको आता तो है, पर मैं आपसे पूछता हूँ यदि तोता बहुत बढ़िया श्लोक पढ़ने लगे और बन्दर बहुत बढ़िया नाचने लगे तो यह बन्दर तोते की विशेषता है अथवा पढ़ाने और नचानेवाले की?"

भगवान् ने कहा, "पढ़ाने और नचानेवाले की।"

"महाराज, बिल्कुल ठीक कहा आपने। मैं तो तोते और बन्दर की तरह हूँ। यदि मुझमें कोई विशेषता दिखाई देती है तो पढ़ाने और नचानेवाले तो आप ही हैं। इसलिए यह प्रशंसा आपको ही अर्पित है।"

भगवान् ने भरत से कहा, "भरत, तो प्रशंसा तुमने लौटा दी ?"

भरत जी बोले, "प्रभु, प्रशंसा का कुपथ्य सबमें अजीर्ण पैदा कर देता है, सबको डमरुआ रोग से ग्रस्त कर देता है। लेकिन आप इस प्रशंसा को पचाने में बड़े निपुण हैं। अनादिकाल से सारे भक्त आपकी स्तुति कर रहे हैं, पर आपको तो कभी अहंकार हुआ नहीं, ऐसी स्थिति में यह प्रशंसा आपको ही निवेदित है।"

तो, नारद ने भी यदि ऐसा ही किया होता और काम की प्रशंसा सुनकर यदि वे गद्गद होकर सोचते कि भगवान् कितने कृपामय हैं जो दुर्गुणों से मुझे बचा लिया और काम-क्रोध-लोभ से मुझे सुरक्षित रखा, तो प्रशंसा भगवान् को अर्पित हो जाती और नारद अहंकार से न बंध पाते। पर नारद बहुत दिनों से भूखे थे! जैसे सभी इन्द्रियों की अपनी भूख होती है, वैसे ही कान की भी तो भूख होती है, तो, नारद को बहुत दिनों से कान से प्रशंसा के शब्द सुनने को नहीं मिले थे, इसलिए जब प्रशंसा का भोजन आया तो उन्होंने पूरा आनन्द लेते हुए भोजन किया। वे फिर विष्णु भगवान् के पास भी पहुँच गये और जब वे भी—

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें।
ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें।।
ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा।। १/१२८/१-२

—कहकर प्रशंसा करने लगे, तब नारद जी ने सोचा कि अब तो भोग लगा ही देना चाहिए। वे भगवान् से कहते हैं—

नारद कहेउ सहित अभिमाना।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।।१/१२८/३

अब यदि यह बात पहले ही नारद जी की समझ में आ जाती, तो वे सारे दुर्गुणों से ही मुक्त हो जाते। पर उनका दुर्भाग्य यह है कि उनके मन में भगवान् की स्मृति नहीं आयी, उन्हें केवल अपनी श्रेष्ठता का स्मरण आया। इस प्रकार एक ओर जहाँ उन्होंने अपने अन्तःकरण में सत्कर्म का, साधना का इतना पवित्र धान्य उपजाया, वहीं अहंकार के बीज भी अंकुरित हो गये। उन्होंने अहंकार की घास को काटने की, मिटाने की चेष्टा नहीं की, अपितु शंकर जी के पास चले गये। यह प्रशंसा की भूख का स्वभाव है कि पेट कभी भरता ही नहीं है। वैसे तो भोजन से पेट भर जाता है, पर आपको ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जो प्रशंसा के भोजन से अघा गया हो, जो कहता हो कि अब मुझे प्रशंसा नहीं चाहिए। होता यह है कि व्यक्ति को जितनी प्रशंसा मिलती

है, उसकी प्रशंसा की भूख उतनी ही बढ़ती जाती है। तो, नारद की प्रशंसा की यह भूख इतनी बढ़ गयी कि वे सोचने लगे—काम ने तो प्रशंसा कर ही दी है, अब जरा कामारि से भी अपनी प्रशंसा सुन लें, तब न कोई बात है। इस प्रकार प्रशंसा सुनने की वृत्ति लेकर वे कैलास पर्वत पर पहुँचे। दो महान् भक्तों का मिलन हुआ। एक ओर थे देवर्षि नारद और दूसरी ओर थे भगवान् शंकर। दोनों ही महान् तत्वज्ञ और भगवान् के परम भक्त थे। यदि उनमें रामकथा छिड़ जाती तो आनन्द बरस पड़ता। लेकिन आज नारद भगवान् का चरित्र सुनाने की मुद्रा में नहीं थे। उन्होंने शंकर जी से कहा कि आज तक तो आपको मैं पुरानी कथा सुनाता आ रहा हूँ, पर आज एक नयी कथा सुनाने जा रहा हूँ। नारद का संकेत यह है कि भगवान् का चरित्र तो वही पुराना है, पर इस बार वे अपना चरित्र सुनाने जा रहे हैं, जिसमें नवीनता है। उन्होंने शंकर जी को सारी घटना सुनायी कि कैसे काम ने उन पर आक्रमण किया और कैसे अप्सराएँ उनके सामने नृत्य करने लगीं। इस वर्णन का एक सांकेतिक तात्पर्य है। वह यह कि जब नारद वर्णन करने लगे, तब उनके मानस-नेत्रों के सामने वे दृश्य फिर से आकर खड़े हो गये कि कैसे अप्सराएँ आयीं और कैसे उन्होंने नृत्य किया। इसका अभिप्राय यह कि बाहर से अप्सरारूप विषयों का त्याग कर देने पर भी अन्तःकरण में संस्कार के रूप में उनका सौन्दर्य, उनका नृत्य, उनका आकर्षण बना हुआ है। उस समय अप्सराओं ने उन्हें व्यामोह में भले ही न डाला हो, पर वे उन्हें भूल नहीं पाये हैं और वे सारे दृश्य उनके मन में ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। राम का उन्होंने इतनी देर जो ध्यान किया, वह तो उन्हें बिसर गया, पर काम का ध्यान बना रहा। इस प्रकार नारद रस लेकर काम की, अप्सराओं की, उनके शृंगार की और उन पर विजय पाने की पूरी गाथा शंकर जी को सुना देते हैं।

अधिकांशतः बहुत से वक्ता अपनी बात सुनाने के बाद अन्त में अपने पासवालों से पूछते हैं—क्यों, कैसा रहा? जमा कि नहीं? यह भी कान की भूख है कि कोई कहे कि बहुत अच्छा हुआ। नारद जी भी भूख से प्रेरित होकर शंकर जी की ओर देखते हैं, मानो पूछना चाहते हैं कि कथा अच्छी लगी या नहीं? यह देखकर शंकर जी के मन में बड़ी दया हो आयी कि नारद रोगी हो गये। यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति अहंकारी हो जाय, तब तो उसको बताया भी जाय कि अहंकार का त्याग करो। परन्तु जो व्यक्ति जानता है कि अहंकार जीवन में सबसे बुरी वस्तु है, अतः कभी अहंकार नहीं करना चाहिए, वही यदि आज अभिमान करके, भगवान को भुलाकर अपना चरित्र सुनावे, तो दया का ही पात्र हो सकता है। भगवान् शंकर विनम्र शब्दों में कहते हैं—

बार बार बिनवउँ मुनि तोही (१/१२६/७)

—मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। पहला वाक्य सुनकर नारद यह देख बड़े प्रसन्न हुए कि शंकर जी मेरी स्तुति कर रहे हैं, बार-बार मुझसे विनय कर रहे हैं। पर अगले ही वाक्य में शंकर जी ने अपना क्षोभ प्रकट कर दिया। और वह क्षोभ बड़ा कठोर था—

जिमि यह कथा सुनायहु मोही ॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। (१/१२६/७-८)

अब इससे बढ़कर कथा की बुरी आलोचना हो ही नहीं सकती कि कोई कह दे—यह कथा अब कभी मत सुनाइए, वह सुनने योग्य नहीं है। भगवान् शंकर की बात से नारद जी को ऐसा लगा कि उन्हें मुझसे ईर्ष्या हो गयी है, वे नहीं चाहते कि मेरा नाम फैले, इसलिए ये मुझे रोक रहे हैं और कपट की शिक्षा दे रहे हैं; भगवान् के सामने सरल बनना चाहिए या कि कपट करना चाहिए ? भक्ति का लक्षण ही है छलरहित बनना—

नवम सरल सब सन छलहीना (३/३५/५)

लेकिन इधर शंकर जी कहते हैं—

चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ (१/१२६/८)

—अगर भगवान् विष्णु पूछें तो भी प्रसंग छिपा लीजिए। नारद भक्ति-भाव भूल गये। बस, यहीं मानस-रोगों के सन्दर्भ में एक विडम्बना है। इसकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ। संक्षिप्त में इसे यों कह लीजिए कि शरीर के रोगों के सम्बन्ध में तो व्यक्ति अपने रोग को स्वीकार कर अपने को रोगी मानता है, लेकिन मन के रोगों के सम्बन्ध में सिद्धान्त बिलकुल उल्टा है। मन का रोगी अपने को रोगी न मान सामनेवाले को ही रोगी मानता है। नारद जी के साथ यही होता है। वे स्वयं रुग्ण हैं, पर रोगी समझ रहे हैं शंकर जी को। जब वे ब्रह्मलोक का लम्बा चक्कर लगाते हुए भगवान् विष्णु के लोक में गये, तो भगवान् ने देखा—

उर अंकुरेउ गरब तरु भारी (१/१२८/४)

—नारद के मन में अभिमान के भारी वृक्ष का अंकुर पैदा हो गया है। नारद जी को जिसे काट देना चाहिए था, उसे नहीं काटा है। सत्कर्म के पास अहंकार की घास तो उगेगी ही, पर बुद्धिमान् साधक उस अहंकार की घास को काटकर धान्य को आगे बढ़ने की शक्ति देता है। अतः भगवान् ने निर्णय किया—

बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी (१/१२८/५)

—मैं उसे तुरन्त ही उखाड़ फेंकूँगा। अहंकार को नष्ट करने के लिए भगवान् भाषण के द्वारा नारद को समझाने की चेष्टा नहीं करते। उन्हें लगता है कि

शिव जी ने नारद को समझाने की चेष्टा की, तो नारद ने उन्हें ईर्ष्यालु समझ लिया, इसलिए यदि मैं भी उन्हें समझाने की चेष्टा करूँ, तो कहीं मुझमें भी दोष न देखने लगें, यह न सोचने लगें कि मुझे भी उनसे ईर्ष्या हो गयी है। यदि रोगी वैद्य को ही रोगी मानकर उसकी चिकित्सा करने की चेष्टा करे और कहे कि आपको दवा लेने की आवश्यकता है, तब तो रोगी स्वस्थ होने से रहा। अतः नारद के रोग को भगवान् सीधे नष्ट करने का निश्चय करते हैं। इसके लिए वे एक नयी पद्धति का आश्रय लेते हैं। नारद के मन में यही तो अहंकार था कि मैंने काम को, क्रोध को, लोभ को, बुराई को जीत लिया है। भगवान् नारद के इस अहंकार के आधार को ही नष्ट कर देना चाहते हैं। वे यह बताना चाहते हैं कि जैसे गर्मी के दिनों में घास सूख जाती है, दिखाई नहीं देती, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि घास के बीज नष्ट हो गये, बल्कि यह जानना चाहिए कि घास के बीज तो धरती के नीचे छिपे हुए हैं और वर्षा का जल पाकर वे फिर से उग आते हैं, उसी प्रकार नारद, तुमने जिन दुर्गुणों को जीतने का दावा किया है, उन सबके बीज तुम्हारे अन्तःकरण में विद्यमान हैं, इसलिए समय पाकर वे फिर से उभड़ सकते हैं। इसे प्रत्यक्ष कराने के लिए भगवान् ने एक कौतुक किया। जब देवर्षि नारद चलने लगे, तो भगवान् ने अपनी माया को प्रेरित किया—

श्रीपति निज माया तब प्रेरी (१/१२८/८)

'रामचरितमानस' में उत्तरकाण्ड में कहा गया है कि सारे दुर्गुणों के मूल में माया है। माया से मोह पैदा होता है और मोह से मनुष्य के अन्तःकरण में सारे दुर्गुणों की सृष्टि होती है। गोस्वामी जी लिखते हैं—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही ॥
तृष्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा।
केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ॥ ७/६९/७-८
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार ॥ (७/७०/क)
गुन कृत सन्यपात नहिं केही।
कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा।
ममता केहि कर जस न नसावा ॥
मच्छर काहि कलंक न लावा।
काहि न सोक समीर डोलावा ॥ ७/७०/१-३

सुत बित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ।। ७/७०/६

सुननेवाला तो घबरा गया कि वर्णन का अन्त ही नहीं हो रहा है। पूछ उठा—महाराज, इन दुर्गुणों की संख्या और कितनी है? गोस्वामीजी बोले—

यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमिति को बरनै पारा ।। ७/७०/७

—'अरे, यह सब माया का बड़ा बलवान् परिवार है, यह अपार है, इसका वर्णन कौन कर सकता है?' यह कह साथ में यह भी जोड़ दिया—

सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं ।। ७/७०/८

—इस माया से शिव जी और ब्रह्मा जी डरते हैं, तब दूसरे जीव भला किस गिनती में हैं? इस घटना के माध्यम से भगवान् बस यही दिखाना चाहते हैं कि जब नारद-जैसे व्यक्ति के अन्तःकरण में अहंकार का उदय हो सकता है, तो कोई भी व्यक्ति जो सावधान नहीं रहेगा और अहंकार को नष्ट करने का दृढ़निश्चयी नहीं होगा, निश्चित रूप से अहंकारग्रस्त हो जाएगा। तो, भगवान् अपनी माया को प्रेरित कर एक नगर की रचना करते हैं—

बिरचेउ मग महुँ नगर तेहिं सत जोजन बिस्तार।
श्रीनिवासपुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार। १/१२६

भगवान् की वह माया वैकुण्ठ से भी अधिक सुन्दर एक चित्र-विचित्र नगर की सृष्टि करती है। एक ओर लक्ष्मी हैं, जो भक्तिरूपा हैं और दूसरी ओर माया है, जिसके द्वारा दुर्गुणों की सृष्टि होकर व्यक्ति भ्रमित होता है। माया की वृत्ति के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में मोह उत्पन्न होता है और उसका सारा ज्ञान विस्मृत हो जाता है। नारद के साथ यही हुआ। वे यह भी तो सोच सकते थे कि जब मैं जा रहा था तब रास्ते में यह नगर तो था नहीं, अब आते समय कहाँ से आ गया? लेकिन इस बात पर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। जो नहीं था, यदि वह दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि वह जादू का ही खेल है। और जादू के खेल को बस देखना ही चाहिए। जादूगर के हाथ में मिठाई देखकर यदि कोई लपककर खा लेने की इच्छा करे तो उसमें खतरा है। तो, नारद यदि देखते कि यह भी कोई जादूगरी का, माया का खेल है, तो बच जाते। लेकिन वे ऐसा नहीं देख पाते। उन्हें वह नगर बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। और वे उसे देखने के लिए आगे बढ़ जाते हैं। उनके चित्त में विपर्यय उपस्थित होता है। नगर के शीलनिधि नाम के राजा ने आकर उन्हें प्रणाम किया और अपनी कन्या को बुलवाया। कन्या का नाम है विश्वमोहिनी। गोस्वामी जी

'विनय-पत्रिका' में सूत्र देते हैं कि माया तो विश्व को सम्मोहित ही करती है और यह मोहजनित मल करोड़ों उपाय से भी नहीं छूटता—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि
कोटिहु जतन न जाई। ८२

ऐसी विश्वमोहिनी को बुलाकर राजा शीलनिधि नारद जी से कहते हैं—

आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदय बिचार ।। १/१३०

—हे नाथ, आप अपने हृदय में विचारकर इसके सब गुण-दोष कहिए।

गोस्वामी जी यहाँ पर शब्दों को उलट देते हैं। जिस समय हिमाचल ने अपनी पुत्री का हाथ नारद जी को दिखलाया था तो उनसे कहा था—

'कहहु सुता के दोष गुन' (१/६६)

—कन्या में क्या दोष-गुण हैं आप बताइए। पहले उन्होंने दोष का नाम लिया, फिर गुण का। और जब विश्वमोहिनी के पिता ने अपनी कन्या का हाथ दिखाया तो उसने कहा—'कहहु नाथ गुन दोष सब'—इसके गुण और दोष बताइए। इसका अभिप्राय क्या है? यही कि जहाँ वात्सल्य है, वहाँ यह चिन्ता रहती है कि यदि कोई कमी है, दोष है, तो उसका निराकरण होना चाहिए। पर जहाँ पर उद्देश्य ही मोहित करना है, वहाँ पर दोष का उल्लेख केवल कहने भर के लिए हो रहा है, मूलरूप से तो वहाँ गुण की तरफ ही आकृष्ट किया जा रहा है। इसीलिए शीलनिधि एक पिता के रूप में नहीं, बल्कि माया के प्रति आकर्षण की वृद्धि करने के लिए कहते हैं कि महाराज, जरा बताइए इस कन्या में क्या गुण हैं और क्या दोष। नारद जी ने जब कन्या को देखा तो उनको लगा कि उसमें सब गुण ही गुण हैं। यदि उन्होंने थोड़ा विचार किया होता तो समझ गये होते कि सृष्टि में जहाँ गुण हैं, वहाँ दोष भी अवश्य हैं। जब पार्वती के बारे में उन्होंने बताया था, तब उनके गुणों का वर्णन करके कहा था—

'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी' (१/६६/७)

—तुम्हारी कन्या में जो दो-चार कमियाँ हैं, उन्हें भी सुन लो। लेकिन विश्वमोहिनी के प्रसंग में उन्होंने शीलनिधि राजा से उनकी कन्या के दोष की चर्चा तक नहीं की। इसका अभिप्राय यह कि उनको माया में गुण ही गुण दिखाई दे रहा है, दोष का दिखना बन्द हो गया है। यह दोष का दिखना बड़े महत्त्व की बात है। यदि व्यक्ति को दोष दिखाई देता रहे तो स्वाभाविक रूप से वह दोष की ओर से सावधान रहेगा। दोष को देखकर उसके अन्तःकरण में वैराग्य की सृष्टि होगी। पर जब उस व्यक्ति को दोष न दिखाई दे तो उसका परिणाम मोह ही तो होगा? और वही नारद जी के जीवन में हुआ। फलस्वरूप उनमें

अन्य विकारों का उदय हुआ। जब उन्होंने विश्वमोहिनी का हाथ देखा, तो शीलनिधि ने उनसे पूछा—महाराज, लड़की के हाथ में क्या लिखा है? नारद जी उत्तर में बोले—

जो एहि बरइ अमर सोइ होई।
समरभूमि तेहि जीत न कोई॥
सेवहिं सकल चराचर ताही।
बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥ १/१३०/३-४

नारद ने मोह के कारण पाठ उल्टा पढ़ा। नारद जी को कहना तो यह चाहिए था कि ऐसे-ऐसे लक्षण जिस वर में होंगे, उससे इस कन्या का विवाह होगा, जैसा कि उन्होंने शंकर जी के प्रसंग में कहा था कि ये जितने लक्षण मैंने बताये वे शंकर जी में हैं, इसलिए इसका विवाह शंकर जी से होगा। पर यहाँ पर उनकी बुद्धि में विपरीतता आ गयी। उन्होने लक्षणों का उल्टा अर्थ ले लिया। 'जो एहि बरइ अमर सोइ होई' का अर्थ उन्होंने यह लगाया कि जो इस कन्या से विवाह करेगा, उसमें अमरता आदि के गुण आ जाएँगे। अर्थात् पहले तो वह मरणधर्मा ही होगा, पर जब इस कन्या से उसका विवाह हो जाएगा तो अमर हो जाएगा। तात्पर्य यह कि पहले तो लोग उसको कुछ नहीं मानते रहेंगे, पर विवाह के बाद उसकी पूजा करने लगेंगे! अभिप्राय यह कि जो कुछ मिलेगा, वह माया की कृपा से, माया के द्वारा मिलेगा!! देवर्षि नारद के जीवन में माया की यही विकटता दीख पड़ती है। वैसे स्वभावतः नारद बड़े सत्यवादी हैं; यदि उनसे कोई पूछे कि सबसे बड़ा पाप क्या है, तो वे यही कहेंगे कि—

नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होंहि कि कोटिक गुंजा।/२/२७/५

—असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है। क्या करोड़ों घुँघचियाँ मिलकर भी पहाड़ के समान हो सकती हैं? पर आज नारद मोह में पड़ गये हैं, इसलिए जानते हुए भी सत्य को दवा जाते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

लच्छन सब बिचारि उर राखे।
कछुक बनाइ भूप सन भाषे॥ १/१३०/५

—मुनि ने सब लक्षणों को विचारकर मन में रख लिया और राजा से कुछ अपनी ओर से बनाकर कह दिये। उन्हें लगा कि यदि मैं यह सच-सच बता दूँ, तो ये कहीं अपनी कन्या का विवाह किसी दूसरे से न कर दें; इसलिए मैं ही योजना बनाकर उसे प्राप्त कर लूं। उसके पश्चात् नारद के जीवन में सारे दुर्गुण—काम, क्रोध, लोभ, मद और मात्सर्य— दिखाई देने लगे, जिन सबके मूल में रामायण के अनुसार—

मुनि नारद कर मोह अपारा। (७/६३/८)

—उनका यही अपार मोह है। भगवान् ने मानो बता दिया कि नारद, तुम वृथा गर्व कर रहे हो कि तुमने काम को जीत लिया, देखो तुम तो काम में इतने पागल हो रहे हो, जितना एक गृहस्थ भी नहीं होता! गृहस्थ कामी भी बनता है तो सुबह उठकर पूजा-पाठ तो कर ही लेता है, पर नारद की दशा ऐसी हो गयी है कि कहते हैं—

जप तप कछु न होइ तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥ १/१३०/८

नारद को बड़ा गर्व था कि मुझे गर्व नहीं आया। पर भगवान् ने उन्हें दिखा दिया कि तुम कितने गर्वीले हो! अरे, तुम तो मुझ पर क्रोध कर रहे हो, मुझे गाली दे रहे हो, मुझे शाप दे रहे हो! तुम्हारा सारा अभिमान व्यर्थ है। नारद जब इस सत्य को समझ लेते हैं, तब भगवान् उनके अलग-अलग विकारों को दूर करने के बदले विकारों के मूल में जो मोह की वृत्ति विद्यमान है; उसी को दूर कर देते हैं—

जब हरि माया दूरि निवारी।
नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥ १/१३७/१

और जब विश्वमोहिनी नहीं रही—

तब मुनि अति सभीत हरि रचना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना॥ १/१३७/२

जब तक माया थी, तब तक भगवान् से झगड़ रहे थे और जब माया का लोप हो गया, मोह दूर हो गया, तो भगवान् के चरणों में गिर पड़े और कहने लगे—

मृषा होउ मम श्राप कृपाला।
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।
कह मुनि पाप मिटहि किमि मेरे॥ १/१३७/३-४

—महाराज, मेरा पाप कैसे मिटे यह बताइए। मुझसे जो दोष हुआ है, उसका प्रायश्चित्त क्या है? भगवान् विष्णु ने मुसकराकर कहा—

जपहु जाइ संकर सत नामा॥ (१/१३७/५)

—जाकर शंकर जी के शतनाम का जप करो। उन्होंने मुनि को शंकर जी की याद दिला दी। प्रभु का संकेत यह है कि मुनि, यदि तुमने शंकरजी की बात सुनी होती, तो समस्या ही न आती!

गोस्वामी जी इस प्रसंग का नाम 'नारद-मोह' देते हैं। यह सार्थक नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों के बीज व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान

रहते हैं और समय पाकर वे अंकुरित हो उठते हैं। रामायण में यह दावा किया गया है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी इसका अपवाद नहीं है, ऐसा कोई नहीं है जो कह सके कि उसके अन्त:करण में दुर्गुणों के संस्कार नहीं हैं। यदि कोई ऐसा कहता है, तो वह अपने जाने हुए सत्य का तिरस्कार करता है और फल-स्वरूप मन तथा शरीर की दृष्टि से अस्वस्थ हो उठता है। इसलिए 'रामचरितमानस' में सारे रोगों के मूल में मोह का होना बताया गया है। मोह कोई रोग नहीं है, पर रोगों का जन्मदाता है। इस मोह से उत्पन्न अलग-अलग रोगों का 'रामचरितमानस' में विश्लेषण करते हुए जो बतलाया गया है कि हम रोगों को कैसे पहचानें और उन्हें दूर करने की कैसी चेष्टा करें, उसकी चर्चा आगे की जाएगी।

□□

प्रवचन-२

भक्तशिरोमणि काकभुशुण्डि जी से रामकथा सुनने के पश्चात् गरुड़ जी उनसे सात प्रश्न करते हैं, जिनमें सातवें प्रश्न के रूप में वे पूछते हैं—

मानस रोग कहहु समुझाई।
तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई॥ ७/१२०/७

अपने इस सातवें प्रश्न में गरुड़ जी काकभुशुण्डि जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'तुम्ह सर्बग्य'—आप तो सब जानते हैं। इसका एक तात्पर्य तो यह हो सकता है कि भुशुण्डि जी में योग की सर्वज्ञता है, क्योंकि वे एक महान् योगी हैं। लेकिन यहाँ पर गरुड़ का संकेत दूसरा है। जैसे किसी व्यक्ति को स्वयं रोग की अनुभूति हो और औषध के द्वारा रोग से छुटकारा पा लेता हो ऐसी दशा में वह बड़े विश्वास से दूसरों से कह सकता है कि यह रोग होने पर मैंने इस दवा का सेवन किया और उससे मुझे लाभ हुआ, और इस प्रकार वह दूसरों को भी प्रेरित कर सकता है कि वे भी उस औषध से लाभ उठावें। तो, भुशुण्डि जी की विशेषता यह है कि भले ही वे इस समय वैद्य हैं, पर पहले वे भी रोगी थे और उन्होंने अगणित जन्म लिये। उन जन्मों में उन्होंने अगणित मानस-रोगों का अनुभव किया और उन्हीं का वर्णन गरुड़ के समक्ष विस्तार से किया। इस प्रकार उनकी सर्वज्ञता योगजन्य होने के साथ-साथ अनुभूतिजन्य भी है। काकभुशुण्डि कहते हैं—

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं।
मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥
देखेउँ करि सब करम गोसाईं।
सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं॥ ७/९५/८-९

—ऐसी कोई योनि नहीं थी, जिसमें मैंने शरीर ग्रहण न किया हो, जहाँ के सुख-दु:खों का मैंने अनुभव न किया हो। और आज मैं यह कह सकता हूँ कि मेरे इस जीवन में समग्र सुख और शान्ति का उदय हुआ है।

तो, काकभुशुण्डि का जीवन अनुभूतियों का भण्डार है। उन्होंने गरुड़ जी को जो आत्मकथा सुनायी, वह आत्मप्रशंसा के रूप में नहीं, अपितु आत्म-विश्लेषण के रूप में। यही उनके कथा कहने की विलक्षणता है। कहीं तो आत्मकथा का उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति अपने प्रति दूसरे के मन में गौरव की वृद्धि करना चाहता है और कहीं यह कि वह आत्मविश्लेषण करता हुआ,

अपनी कमियों की ओर ध्यान दिलाता हुआ दूसरों को उनसे बचने की प्रेरणा देता है। काकभुशुण्डि जी दूसरी पद्धति से कथा कहते हैं। उन्होंने जिस मानस-रोगों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ का उन्होंने स्वयं बड़ी तीव्रता से अनुभव किया है। उन्होंने आगे चलकर जो यह कहा कि—

अहंकार अति दुखद डमरुआ। (७/१२०/३५)

—तो यह उन्होंने अपनी अनुभूति की ही बात कही। उनके इस तीव्र अहंकार ने कैसी समस्याएं उत्पन्न कीं, इसका उन्होंने बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। तो, जिस व्यक्ति ने ऐसा अनुभव जीवन में पाया हो, जिसने रोग की अनुभूति के बाद स्वस्थता का अनुभव किया हो, उसकी अनुभूति दूसरों के लिए जितनी प्रेरक बनेगी, उतनी उस वैद्य की बात नहीं, जिसे रोग का अनुभव न हुआ हो।

कल आपके सामने जो प्रसंग चल रहा था, आइए उसे हम आगे बढ़ाएं। काकभुशुण्डि जी ने रोगों का मूल कारण मोह को बताया। जाने हुए सत्य की उपेक्षा करने की जो वृत्ति है, वह मोह है और यह मोह अभ्यास से उत्पन्न हुआ है, जो केवल इसी जन्म से सम्बद्ध नहीं है, अपितु अगणित पूर्व-पूर्व जन्मों से बनता चला आया है। जैसे कई बार कुछ लोगों का अभ्यास बन जाता है मुंह में उंगली डालकर चबाने का। वे यह जानते तो हैं कि ऐसा करना ठीक नहीं, लेकिन जब भी वे कुछ सोचते रहते हैं, तो अनजाने में, बिना प्रयास के, उनका अभ्यास उन पर हावी हो जाता है और वे अभ्यास से प्रेरित हो वही कार्य करने लगते हैं, जिन्हें वे बुरा समझते हैं। जब व्यक्ति के इसी जीवन में पड़नेवाले दुर्गुण के अभ्यास का छूटना इतना कठिन होता है, तब अगणित जन्मों से जो अभ्यास बना चला आ रहा है, उसका छूटना कितना कठिन न होगा इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। ये अभ्यास संस्कार के रूप में चित्त में संग्रहित रहते हैं, इसलिए अनुकूल परिस्थिति पाने से अंकुरित होते रहते हैं। रावण के प्रसंग में इसी का संकेत किया गया है। गोस्वामी जी 'विनय-पत्रिका' में रावण को मूर्तिमान मोह बताते हैं—

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहँकार।
पाकारिजित काम विश्रामहारी॥ (५८)

गोस्वामी जी के इस कथन का एक आध्यात्मिक तात्पर्य है। जब भगवान् श्री राघवेन्द्र रावण के दस सिर और बीस भुजाओं को अपने तीस बाणों के द्वारा काट देते हैं, तो अगले ही क्षण अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता है, वह यह कि रावण के नये सिर और नयी भुजाएं निकल आती हैं। श्री राम बारम्बार उसके सिर और भुजाओं को काटते हैं और उतनी ही बार रावण के नये सिर और भुजाएँ

पैदा हो जाती हैं। लंका का रणक्षेत्र रावण के इन कटे हुए सिरों और भुजाओं से पट जाता है। इस प्रकार रावण को मारने की चेष्टा करने पर भी जब भगवान् श्री राघवेन्द्र उसका वध नहीं कर पाते—कम-से-कम लोगों के सामने तो यही दिखाई देता है—तब वे विभीषण की ओर देखते हैं। इस प्रसंग को जब शंकर जी ने पार्वती जी को सुनाया, तो उन्हें यह सोच बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर रावण का वध नहीं कर सकते थे? पर यह प्रश्न मात्र उसी प्रसंग के सन्दर्भ में नहीं है, अपितु वह तो हम सबके जीवन से जुड़ा हुआ है। जब यह कहा जाता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं और व्यक्ति के हृदय में बैठे हुए हैं, तो ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वे जीवन की बुराइयों को मिटा क्यों नहीं पा रहे हैं? ईश्वर के होते हुए भी हमारे दुर्गुण ज्यों-के-त्यों क्यों बने हुए हैं? रावण के उक्त प्रसंग में इस प्रश्न का सार्थक उत्तर दिया गया है। इसको सूत्र के रूप में यों कहें कि योग्य से योग्य वैद्य भी रोगी को तब तक स्वस्थ नहीं कर सकता, जब तक कि रोगी स्वयं वैद्य को सहयोग न दे। यदि रोगी वैद्य के आदेश का पालन करे, वैद्य की दी हुई औषध और पथ्य का सेवन करे, तभी वह स्वस्थ हो सकता है। पर यदि वैद्यराज ऊँची से ऊँची दवा देकर, पथ्य बताकर चले जायें और रोगी उस पुड़िया को फेंक दे तथा जिन वस्तुओं को वैद्य ने खाने के लिए मना किया हो उन्हें खाने की चेष्टा करे, तब वैद्य की उच्च से उच्च योग्यता भी उस रोगी को भला कैसे स्वस्थ कर सकती है? इसी प्रकार ईश्वर चाहे जितने बड़े वैद्य हों, पर जब तक रोगी के रूप में यह जीव उनको सहयोग नहीं देगा, तब तक उनकी सर्वशक्तिमता सफल नहीं हो सकती। यहाँ पर भी संकेत यही है। विभीषण स्वयं जीव के प्रतीक हैं। गोस्वामी जी 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं—

जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण
बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता (५८)

—विभीषण जीव हैं और रावण मूर्तिमान् मोह है। जब चेष्टा करने पर भी मोह नष्ट नहीं होता, तब भगवान् श्री राघवेन्द्र जीव से सहायता की याचना करते हैं। वे जीव से पूछते हैं—क्यों? बहुत से ऐसे विषय होते हैं, जिनमें वैद्य को रोगी से बड़ी प्रेरणा मिलती है। रोगी को अपनी प्रकृति के, अपने स्वयं के विषय में जितनी अनुभूति है, उतनी वैद्य को नहीं है। अतः जब रोगी अपनी पूरी प्रकृति, अपनी समस्त समस्याओं को वैद्य के सामने रखता है, तभी वैद्य ठीक-ठीक दवाओं की व्यवस्था कर उसकी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ होता है। तो, जब भगवान् श्री राघवेन्द्र विभीषण की ओर देखते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि रोगों का विनाश तब तक नहीं होगा, जब तक जीव स्वयं

सहायक नहीं बनेगा, जब तक वह स्वयं मोह को नहीं मिटाना चाहेगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि वैसे तो—

उमा काल मर जाकीं ईछा (६/१०१/३)

—ईश्वर की इच्छा मात्र से काल भी मर सकता है, फिर भी वे देखना चाहते हैं कि जीव इसमें कितना सहयोग देता है। इसलिए श्री राघवेन्द्र विभीषण की ओर देखते हैं—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
राम बिभीषन तन तब देखा॥ ६/१०१/२

और विभीषण जी उस रहस्य को जानते हैं कि रावण की मृत्यु क्यों नहीं हो रही है, उसके नये सिर और नयी भुजाएँ क्यों निकल रही हैं, गोस्वामी जी द्वारा प्रदत्त सूत्र बड़े महत्त्व का है। काकभुशुण्डि जी कहते हैं—

'नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान'। (७/१२१ ख)

अब इनको चाहे मानस-रोगों के सन्दर्भ में औषध कह लीजिए, चाहे लंका के राक्षसों के सन्दर्भ में बाण। यदि मोह राक्षस है, तो बाण चलाया जाता है और यदि मोह रोगों का मूल है, तो औषध दी जाती है। लेकिन मोह ऐसा है कि बहुत-सी औषधियाँ देने पर भी वह विनष्ट नहीं होता। बहुत-सी औषधियों का प्रयोग करने पर भी मनुष्य के दुर्गुणों का विनाश नहीं होता है। वैसे तो साधारणतः यदि किसी के शरीर पर प्रहार किया जाय या उसका सिर काट दिया जाय, तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाएगी। पर रावण के साथ यह समस्या है कि सिर और भुजा के साथ-साथ जब तक उसकी नाभि पर भी प्रहार नहीं किया जाएगा, वह नहीं मरेगा। यह नाभि वस्तुतः चित्त का मूल-केन्द्र है। यहीं पर पूर्व-पूर्व जन्मों के संस्कार संग्रहित रहते हैं। सृष्टि के सृजन की प्रक्रिया में नाभि को बड़ा महत्व दिया गया है। कहा जाता है कि सृष्टि का सृजन ब्रह्मा द्वारा होता है और ब्रह्मा का जन्म कमल पर, जो भगवान् विष्णु की नाभि से निकलता है। तो, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि। इसका क्या तात्पर्य हुआ? यही कि सृष्टि करते समय ब्रह्मा मनमानी नहीं करते, किसी को सुन्दर या किसी को कुरूप नहीं बनाते, अपनी ओर से सृष्टि में भेद उत्पन्न नहीं करते, अपितु भेद के बीज कमल में ही रहते हैं, जिसमें से उनकी भी उत्पत्ति होती है। सृष्टितत्त्व में बताया गया है कि प्रलयकाल में यह विराट् ब्रह्माण्ड भगवान् के उदर में सो जाता है। वस्तुओं के स्थूल रूप तो मिट जाते हैं, पर वे संस्कार के रूप में ईश्वर के उदर में समाहित रहते हैं। जब तक ईश्वर सुषुप्त हैं, निष्क्रिय हैं, तब तक वे संस्कार भी सुप्त रहते हैं, दिखाई नहीं देते। जैसे हमारे जीवन में होता है। जब हम गहरी नींद में होते हैं, उस समय हमारे अभ्यासजन्य संस्कार सक्रिय नहीं दिखाई देते। लेकिन जैसे ही नींद खुलती है, वे सक्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार से जब प्रलय होता है तो व्यक्ति केवल संस्कार के रूप में जीवित रहता है, वह ईश्वर के उदर में समाया रहता है। सृष्टिकाल में उस नाभि से, संस्कारों के उस मूल-केन्द्र से सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यहाँ पर कहा गया है कि रावण की नाभि में अमृतकुण्ड है। तात्पर्य यह है कि रावण की नाभि में पूर्व-पूर्व जन्मों के चित्तगत संस्कार पड़े हुए हैं।

मोह की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि अन्य रोग तो मन में होते हैं, पर मोह का निवास चित्त में होता है। इसलिए मन की ओषधि करने पर भी चित्तगत दोषों का नाश नहीं होता है। अतएव चित्तगत दोषों को मिटाने के लिए वैराग्य का अभ्यास ओषधि के रूप में दिग्दर्शित हुआ है। काकभुशुण्डि जी कहते हैं—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई।
जब उर बल बिराग अधिकाई॥ (७/१२१/६)

—मन को तब नीरोग हुआ जानना चाहिए, जब हृदय में वैराग्य का बल बढ़ जाय। तात्पर्य यह कि चित्तगत, संस्कारगत मोह को काटने के लिए तीव्र वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसीलिए महापुरुष लोग साधना-क्रम में अभ्यास पर बल देते हैं। पुराने प्रतिकूल संस्कारों को काटने के लिए अभ्यास के द्वारा चित्त में नये अनुकूल संस्कार पैदा करने होते हैं। पुराने संस्कारों को काटने के लिए 'रामचरितमानस' में सूत्र दिया गया है—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥ (७/६१)

—सत्संग से, बार-बार सन्त का संग करने से वैराग्य और भक्ति के संस्कार तीव्र होते हैं और पुराने संस्कार समाप्त होते हैं। मानस-रोगों से मुक्ति पाने का यही उपाय है।

यह तो मानस-रोगों से मुक्ति के सन्दर्भ की बात हुई, पर पहले मानस-रोगों का जो विचित्र रूप है, उस पर थोड़ा विचार करें। एक रोगी केवल अपने लिए ही समस्या नहीं होता, वह दूसरों के लिए भी समस्या खड़ी करता है। रोगी स्वयं तो अस्वस्थ होता ही है, दुःख पाता ही है, साथ ही परिवार के लोगों को भी चिन्ता में डाल देता है। और कहीं रोग यदि छूतवाला हुआ, तब तो वह केवल चिन्ता ही नहीं, रोग भी बाँटता है। शरीर के सन्दर्भ में तो कुछ ही रोग ऐसे होते हैं, जो छूत से होते हैं और शेष रोग छूतजन्य नहीं होते, लेकिन मानस-रोगों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सारे-के-सारे रोग

छूत से फैलते हैं। जो व्यक्ति मन से रोगी होता है, वह परिवार को और समाज को भी रोगी बना देता है। इसलिए मन के रोग के स्वरूप को समझकर उसे मूल से नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि गोस्वामी जी आयुर्वेद की पद्धति से मन के रोगों को समझाते हैं। आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि इस शरीर की रचना में कफ, वात और पित्त इन तीन धातुओं का महत्त्व है, जो व्यक्ति को चैतन्य बनाये रखते हैं। जब तक ये सन्तुलित रूप से विद्यमान रहते हैं, तब तक तो व्यक्ति स्वस्थता का अनुभव करता है, पर ज्योंही इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, वह अस्वस्थ हो जाता है। इसी प्रकार मन में भी काम, क्रोध और लोभरूप वात, पित्त और कफ हैं। पिछले वर्ष काम और लोभ की चर्चा की गयी थी, अब हम थोड़ा क्रोध के सन्दर्भ में विचार करेंगे। यदि हम शरीर को देखें तो वात और कफ की भूमिका के साथ पित्त की भूमिका भी बड़े महत्त्व की है। यदि व्यक्ति के शरीर में पित्त सर्वथा समाप्त हो जाय, तो पाचन की प्रक्रिया नष्ट हो जाएगी। यह पित्त पाचन की प्रक्रिया को सक्रिय करता है। वात समस्त धातुओं को प्रेरित करके चलाता है और कफ व्यक्ति के शरीर में बल संचारित करता है। इसी प्रकार मनुष्य का मन भी काम, क्रोध और लोभ से परिचालित होता है। यदि व्यक्ति के मन में काम न हो, तो यह आशंका बन सकती है कि व्यक्ति कहीं निष्क्रिय न हो जाय। यदि लोभ के माध्यम से समाज में धन संग्रहित न हो, तो परिणाम यह होगा कि समाज निर्धन हो जाएगा। दरिद्रता के विनाश के लिए या अन्य मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए जिस धन की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति लोभ के द्वारा होती है। इस प्रकार काम और क्रोध के द्वारा समाज में सृष्टि का और उसे गतिशील बनाने का कार्य सम्पन्न होता है। इनके साथ क्रोध के रूप में यह जो पित्त है, उसका भी अपना मौलिक महत्त्व है। उसके अभाव में भोजन ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, जिससे शरीर शक्तिशाली नहीं बन पाएगा। पित्त अग्नि के रूप में भोजन को जलाकर ऐसी ईंधनशक्ति के रूप में परिणत कर देता है, जिससे शरीर को अपने संचालन के लिए आवश्यक रसों की प्राप्ति होती है। पर जब यही पित्त शरीर में अधिक बनने लगता है, तो वह अन्न को भस्मीभूत करने के स्थान पर व्यक्ति के हृदय को ही जलाने लगता है। क्रोध की प्रक्रिया भी ठीक ऐसी ही है। वैसे काम और लोभ की तुलना में क्रोध की विचित्रता पर लोगों का ध्यान कम जाता है। साधारणतया व्यक्ति काम को सबसे बड़ी बुराई के रूप में देखता है। यदि किसी व्यक्ति में काम का अतिरेक हो जाए, तो उसे अनाचारी कहकर समाज उसका तिरस्कार करता है। वैसे ही यदि किसी व्यक्ति के जीवन में लोभ अधिक हो, तो उसे भी लोग समादर देना पसन्द नहीं करते। पर क्रोध के प्रति हमारी उपेक्षा की, हमारी सजगता की वृत्ति उतनी नहीं होती, तथापि जीवन में व्यक्ति जिसका प्रतिक्षण अनुभव करता है, वह क्रोध है। रामायण में एक बढ़िया उपमा दी गयी है, उसमें भी यही संकेत है। भगवान् राम काम की तुलना तो सर्प से करते हैं और क्रोध की, अग्नि से। यह प्रसंग अरण्यकाण्ड के अन्त में आता है। भगवान् राम जनकनन्दिनी सीता को खोजते हुए विलाप कर रहे हैं, उस समय देवर्षि नारद उनसे मिलने आते हैं। ऐसे समय में वे भगवान् राम से एक प्रश्न कर देते हैं—

> तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
> प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥ (३/४२/३)

—महाराज, जब मैंने विवाह करना चाहा, तो आपने क्यों नहीं करने दिया? नारद का प्रश्न विचित्र संकेतों से भरा हुआ है। भगवान् राम अपनी पत्नी के वियोग में विलाप कर रहे हैं। होना तो यह चाहिए कि हमें दूसरे को उस काम से रोकना चाहिए, जो हम स्वयं न करते हों। पर यह एक विचित्र विरोधाभास हो जाता है कि व्यक्ति स्वयं तो पत्नी में इतना आसक्त हो कि विरह में विलाप करे और दूसरे व्यक्ति को विवाह न करने दे! नारद का संकेत यह था कि या तो आप भी विवाह न करते, जिससे मैं समझ लेता कि आपने स्वयं भी विवाह नहीं किया, इसलिए मेरा भी नहीं होने दिया, या फिर आप जब स्वयं विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तो मेरा भी विवाह हो जाने देते। इसके अतिरिक्त नारद का तात्पर्य यह भी था कि महाराज, मैंने ऐसा तो नहीं सुना कि संसार में जितने विवाह होते हैं, उनमें आप बाधा देते हों। यदि ऐसा होता तो मैं सन्तुष्ट हो जाता कि आप सम हैं और सबके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं—जिसके भी मन में विवाह की इच्छा उठती है, उसका आप विवाह नहीं होने देते हैं। पर ऐसा तो है नहीं। संसार में असंख्य विवाह हर वर्ष हो रहे हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पड़ती। तब विशेष रूप से आपने मुझे ही क्यों चुना? इस पर भगवान् श्री राघवेन्द्र ने यह कहा कि माँ के ऊपर छोटे बच्चे का जितना भार होता है, उतना बड़ों का नहीं होता। माँ बड़े लड़कों के पीछे नहीं चलती, मानो वह उसको स्वतंत्र कर देती है कि वे अपने विवेक से निर्णय करें। लेकिन माँ जो सुविधा अपने बड़े पुत्रों को देती है, वह अपने नन्हें बालक को नहीं देती, उसे उसके विवेक पर नहीं छोड़ती, क्योंकि वह जानती है कि इसके विवेक नहीं है, इसमें तो समर्पण की प्रधानता है। विवेक के स्थान पर

जहाँ समर्पण की प्रधानता है, वहाँ समर्पित बालक की सारी चिन्ता का भार माँ के ऊपर है।

ऐसा पूछा जाता है कि क्या ये दुर्गुण कुछ व्यक्तियों में होते हैं और कुछ में नहीं? इसका उत्तर रामायण में यह कहकर दिया गया है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसमें अवगुण न हों। क्या ऐसा कोई व्यक्ति हो सकता है, जिसके शरीर में कफ-वात-पित्त बिल्कुल न हों? यदि कोई है तो वह मृत होगा, जीवित नहीं। जीवित व्यक्ति में कफ, वात-पित्त होंगे ही। व्यक्ति का निर्माण ही ऐसी सृष्टि में हुआ है, जो गुण-दोषों के मिश्रण से बनी है। गुण के साथ दोष विद्यमान होते ही हैं। समस्या तब होती है, जब दोष असन्तुलित हो गुणों पर अधिकार कर लेते हैं। हमें इस सन्दर्भ में भगवान् श्री राम के उत्तर को देखना चाहिए, जो उन्होंने नारद के प्रश्न का दिया है। वे कहते हैं कि ज्ञानी और भक्त मेरे दो पुत्र हैं और दोनों के सामने काम-क्रोध की समस्या आती है—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥ ३/४२/८
दुहु कहँ काम-क्रोध रिपु आही। ३/४२/९

—ज्ञानी मेरे सयाने पुत्र के समान है और अपने बल का मान न करनेवाला सेवक मेरे नन्हे शिशु के जैसा है, पर काम-क्रोधरूपी शत्रु तो दोनों के लिए हैं। जब ज्ञानी के सामने काम-क्रोध की समस्या आती है, तो वह अपनी क्षमता के द्वारा उसका समाधान करता है। भगवान् का यहाँ पर शंकर जी की ओर संकेत था। शंकर जी महान् तत्त्वज्ञ हैं, परिपूर्ण हैं, अतः जब काम उन पर आक्रमण करता है, तो वे अपनी योग-क्षमता का प्रयोग कर काम पर विजय प्राप्त करते हैं। भगवान् का संकेत यह था कि शिव भी काम के विजेता हैं, पर उन्होंने काम पर अपने बल से विजय प्राप्त की। पर नारद, तुम तो नन्हे बालक हो और नन्हे बालक की समस्या का समाधान करना माँ का कार्य है। वहाँ पर काम-क्रोध की तुलना के लिए दो उपमाएँ दी गयीं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएं तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिल बाता॥ ३/४२/६-७

—छोटा बच्चा जब दौड़कर आग और साँप को पकड़ने जाता है, तो वहाँ माता उसे अपने हाथों से अलग करके बचा लेती है। सायना हो जाने पर उस पुत्र पर माता प्रेम तो करती है, परन्तु पिछली बात नहीं रहती। यहाँ पर सर्प की तुलना काम से की गयी है और अग्नि की, क्रोध से। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सर्प से जितना डरता है, आग से उतना नहीं डरता, क्योंकि उसे लगता है कि सर्प न जाने कब अँधेरे में से निकलकर उसे डस ले। आग तो छिपी नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। घर में नित्य उसका प्रयोग होता है, इसलिए अग्नि को हम निकट से देखने के इतने अभ्यस्त हैं कि उससे सर्प के समान भय नहीं लगता। पर सच्चाई तो यह है कि अग्नि भी सर्प के समान घातक है। जैसे सर्प के डँसने से कितने लोगों की मृत्यु होती है, वैसे ही अग्नि से जल जाने से भी, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि एक अँधेरे में छिपा हुआ है तो दूसरा प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार काम की वृत्ति छिपी रहती है, जबकि क्रोध की, प्रकट। इस काम की वृत्ति को व्यक्ति प्रकट नहीं करना चाहता, लेकिन क्रोध करने में वह संकोच नहीं करता। भगवान् श्री राघवेन्द्र कहते हैं कि दोनों से सावधान रहने की आवश्यकता है, बल्कि सर्प से तो हमें कभी-कभी ही भय होगा, जबकि अग्नि से हमें नित्य भय है। सर्प के निकलने की सम्भावना तो कुछ ऋतुविशेष में, स्थान-विशेष में होती है, पर अग्नि का जलना तो सब जगह, सब समय नित्य आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि के प्रति व्यक्ति को सतत सजग रहना चाहिए।

तो, नारद से भगवान् कहते हैं कि नारद, यह काम और क्रोध की समस्या शंकर जी के सामने भी थी और तुम्हारे सामने भी। भगवान् शंकर ने अपनी क्षमता के द्वारा उन पर विजय पा ली, जबकि तुम काम और क्रोध दोनों के वशीभूत हो गये। भगवान् श्री राघवेन्द्र ने मीठा व्यंग्य किया। नारद जी ने पूछ दिया—महाराज, आपकी यह दशा क्यों हो गयी? भगवान् ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३/४२/४

—सुनो मुनि, मैं रोषसहित तुमसे कहता हूँ! इस पंक्ति को लेकर रामायण के टीकाकारों में बड़ा विवाद है। भगवान् यदि यह कहते कि मैं बड़ी प्रसन्नता से कह रहा हूँ, तब तो यह ठीक लगता। पर वे कहते हैं कि नारद, मैं क्रोध से कह रहा हूँ। तो भगवान् का तात्पर्य क्या था?—यह कि मुझे आँसू बहाते देख तुमने सोच लिया कि मैंने केवल काम को स्वीकारा है, नहीं, नहीं, मैंने काम और क्रोध दोनों को स्वीकार किया है। नारद का प्रश्न है कि महाराज, आप काम-क्रोध को क्यों स्वीकार कर रहे हैं? भगवान् उत्तर में बड़ा सार्थक दृष्टान्त देते हैं। कोई बालक अगर सर्प की ओर बढ़ रहा हो और सर्प के पास उसकी उँगलियाँ पहुँच गयी हों या किसी बालक का हाथ अग्नि की

ओर बढ़ गया हो, तो वात्सल्यमयी माँ तुरन्त उस समय बालक का हाथ पकड़ कर उसे बचाने की चेष्टा करेगी। यह बिल्कुल सम्भव है कि बचाने की उस चेष्टा में बालक की उँगलियाँ जहाँ तक पहुँच गयी हैं, माँ का हाथ उससे भी आगे पहुँच जाय। यह भी हो सकता है कि माँ की अंगुली के बढ़ने पर साँप उसे काट ले। यह भी सम्भव है कि बच्चे की उँगली को बचाने की चेष्टा में माँ की उँगली ही जल जाय। लेकिन माँ इस बात से प्रसन्न हो जाती है कि कम-से-कम उसका बच्चा सर्प और ज्वाला से बच गया। तो, नारद ने जब यह पूछा कि महाराज, आपकी यह दशा कैसे, भगवान् बोले—आपकी कृपा से! हम आपको बचाने चले और यह लपट हमें भी लग गयी! भगवान् ने मीठा व्यंग्य किया। बोले—नारद, भूल गये क्या? यह विवाह मैंने अपनी इच्छा से थोड़े ही किया। तुमने यदि शाप ऐसा दिया होता कि जब तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया, तो जाओ, तुम्हारा भी विवाह न हो, तो मेरा विवाह न हुआ होता, फलस्वरूप मुझे यह दुःख भी न भोगना पड़ता। पर तुमने तो यह कह मुझे शाप दे दिया—

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।। ३/१३६/८

मैं कहाँ तुम्हें काम से बचाने की चेष्टा कर रहा था और कहाँ तुमने मुझे ही शाप दे दिया कि तुम्हें पत्नी के वियोग में दुःख हो! चलो कोई बात नहीं, मैं पत्नी के वियोग में रो रहा हूँ, पर कम-से-कम तुम तो दुःखी नहीं हो न! इसलिए तुम्हें यह देखकर प्रसन्न होना चाहिए कि जो दुःख तुम पर आनेवाला था, उसे मैंने ले लिया। इस प्रकार भगवान् उनके जीवन में काम की जो स्वीकृति दिखाई पड़ती है, उसका रहस्य प्रकट करते हैं।

फिर भगवान् श्री राम क्रोध को भी स्वीकार करते हैं। वे जीवन में यत्र-तत्र क्रोध करते हुए दिखाई देते हैं, खर-दूषण के साथ युद्ध करते हुए वे क्रोध से भरे दिखाई दे रहे हैं। (३/१८/छं० २)—

कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम।।

नारद के प्रसंग में भी उनमें क्रोध की स्वीकृति दिखाई देती है। वे कह उठते हैं— **सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३/४२/४**

अन्य प्रसंगों में भी उनके क्रोध का वर्णन है। प्रश्न उठता है कि क्रोध को स्वीकार करने में ईश्वर का उद्देश्य क्या है? इस सन्दर्भ में सुग्रीव का प्रसंग ही ले लें।

सुग्रीव रामायण के एक ऐसे पात्र हैं, जिनके चरित्र को पढ़कर आश्चर्य होता है कि इतने दुर्बल व्यक्ति ने ईश्वर को कैसे पा लिया? पर उससे भी बड़ा आश्चर्य तब होता है, जब ऐसे सुग्रीव के चरणों में प्रणाम करनेवाले हनुमान

जी जैसे महापुरुष, सन्त दिखाई देते हैं, जिनमें कहीं पर वासना का लेश नहीं। हनुमान जी यदि सुग्रीव को अपना शिष्य मानते होते, तब तो कोई बात भी थी। पर वे तो सुग्रीव के इतने प्रशंसक हैं और उनके प्रति इतने विनम्र हैं कि यह बड़ा अटपटा-सा लगता है कि हनुमान जी-जैसा वैराग्यवान् सुग्रीव-जैसे विषयी व्यक्ति के चरणों में प्रणाम करे। लेकिन यह तो हनुमान जी की अपनी दृष्टि थी।

किसी ने उनसे पूछ दिया कि महाराज, आप तो बाल-ब्रह्मचारी हैं और सुग्रीव गृहस्थ, एक ब्रह्मचारी गृहस्थ की सेवा करे यह तो कुछ समझ में नहीं आता है। यह उल्टी परम्परा कैसे? हनुमान जी ने मुस्कराकर उत्तर दिया कि अरे भई, जब हमारे इष्टदेव ही गृहस्थ हैं और जब मैं उनकी पूजा करता हूँ, तो दूसरे गृहस्थ की मैं कैसे आलोचना करूँ? किसी ने उनसे कहा कि सुग्रीव तो ऐसे हैं, जिन्होंने भगवान् को भुला दिया। हनुमान जी ने कहा—सो तो ठीक, लेकिन भगवान् ने तो सुग्रीव को नहीं भुलाया! और सचमुच भगवान् ने सुग्रीव को विस्मृत नहीं किया, सुग्रीव धन्य हो गये। इससे हनुमान जी के मन में जो प्रश्न था, उसका समाधान हो गया।

जब हनुमान जी से भगवान् का पहली बार मिलन हुआ था, तो प्रभु ने उनसे पूछा था—ब्राह्मणदेवता, मैंने तो अपना चरित्र सुना दिया, अब आप भी अपनी कथा सुनाइए। इस पर हनुमान जी ने उन्हें उलाहना दी थी—

पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ। (४/२)

—महाराज, जीव भले ही आपको भूल जाए, पर आप भला जीव को कैसे भूल सकते हैं? मैंने तो जीव के स्वभाववश आपसे आपका परिचय पूछा, जीव विस्मृतशील है, वह भूल जाता है, पर आप तो सर्वज्ञ हैं और सर्वज्ञ होने के नाते क्या आपको पता नहीं कि मैं कौन हूँ? आप कबसे भूलने लगे? भगवान् राम ने सफाई दी—नहीं, नहीं, भूला नहीं हूँ, मैंने तो तुमसे केवल यही कहा—

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।।४/१/४

इसके उत्तर में हनुमान जी ने जो कहा, उसे परिचय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिचय तो तब होता है जब हनुमान् जी अपने जन्म की चरित्र की कथा सुनाते और कहते कि मैं पवन और अंजना का या कि केशरी और अंजना का पुत्र हूँ, पर वे तो कहते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान्।। ४/२

—मैं मन्द हूँ, मोह के वश में हूँ, कुटिल हृदयवाला हूँ, अज्ञानी हूँ। इस पर भगवान् ने हँसकर हनुमान् जी की ओर देखा, मानो यह पूछ रहे हों—यह

कथा सुना रहे हो या व्यथा ? हनुमान् जी बोले—महाराज, मैं यही तो कहना चाहता था कि कथा तो केवल आपकी ही है, जीव की तो व्यथा ही व्यथा है। जीव अपनी व्यथा और समस्या ही आपके सामने रख सकता है। हनुमान् जी की आकुल वाणी सुनकर भगवान् उन्हें हृदय से लगा लेते हैं और उनका नाम लेते हुए कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत (४/३)

और इस प्रकार बतला देते हैं कि मैं तुम्हे भूला नहीं हूँ; यदि मैं भूला होता तो तुम्हारे न बताने पर भी तुम्हारा नाम मुझे कैसे ध्यान में रहता ? फिर हनुमान् जी को सान्त्वना देते हुए कहते हैं।

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तें मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। (४/२/७)

—सुनो हनुमान् ! तुम बुरा मत मानना, तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो।

तथापि हनुमान्जी को इस बात की प्रतीति कि भगवान् भुलाते नहीं हैं, बहुत बाद में हुई। सुग्रीव राज-पाट पाकर भोगों में भूल जाते हैं। भगवान् के पास जाने की उन्हें याद ही नहीं रहती। पर हनुमान्जी तो प्रतिक्षण भगवान् श्रीराम की स्मृति में डूबे रहते हैं, फिर भी वे प्रभु के पास नहीं गये। क्यों ? इसलिए कि हनुमान् जी देखना चाहते थे कि ईश्वर अधिक भूलनेवाला है या जीव। और प्रभु ने दिखा दिया कि जीव ही ईश्वर को भूलता है, ईश्वर जीव को नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान् राम ने रोष को स्वीकार किया। उन्हें सुग्रीव पर रोष आता है और वे लक्ष्मण को श्रोता बनाते हैं। जहाँ क्रोध का प्रसंग हो, वहाँ लक्ष्मण से बढ़िया श्रोता और कोई नहीं हो सकता, क्योंकि लक्ष्मण जी क्रोध के बड़े समर्थक हैं। उनके चरित्र में अग्नि की तेजस्विता है। उनका क्रोध रामायण में सर्वत्र दिखाई देता है। तो, आज जब भगवान् श्री राघवेन्द्र ने क्रोध की यह नयी भूमिका स्वीकार की, तो लक्ष्मण जी यह सोचकर आश्चर्यचकित हो गये कि मेरी भूमिका प्रभु ने कैसे ले ली। प्रभु ने कहा—लक्ष्मण, देखा सुग्रीव को ? राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पाकर उसने भी मेरी सुधि भुला दी !—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी ।। ४/१७/४

"तो महाराज, इस अपराध के बदले में क्या करने का विचार है ?"—लक्ष्मण जी ने पूछा। प्रभु बोले—

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।। ४/१७/५

—जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी से मैं उस मूर्ख सुग्रीव का कल वध करूँगा।

गोस्वामी जी ने बहुत बढ़िया बात लिखी—

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना (४/१७/८)

—लक्ष्मण जी ने देखा कि भगवान को क्रोध आ गया है। उन्होंने उनके चरणों को पकड़ लिया और बोले, "महाराज, मेरा काम मुझे ही करने दीजिए, आप न करें तो ही ठीक है।"

तो, क्रोध की भूमिका यह है कि अगर कोई अपराधी है, तो उसे दण्ड देने की आवश्यकता है। जब अग्नि घर के एक कमरे में जलती होती है, तब भोजन को पकाती है; जो व्यक्ति वह पका हुआ भोजन ग्रहण करता है, उसके भीतर भी वह अग्नि पित्त के रूप में भोजन को पचाती है, शरीर को शक्ति देती है; पर वही अग्नि यदि अनियंत्रित हो जाय तो घर में आग लगा सकती है, व्यक्ति को जलाकर खत्म कर दे सकती है। अभिप्राय यह है कि क्रोध अगर सन्तुलित होगा, समन्वित होगा, सीमा में होगा, तो वह बुराई को विनष्ट करनेवाला होगा। यहाँ पर भगवान् राम के क्रोध की भूमिका यही है। लक्ष्मण जी ने भगवान् राम से जब यह कहा कि आपका विचार तो बड़ा अच्छा है, मैं अभी जाकर सुग्रीव को मार आता हूँ, तो भगवान् श्री राघवेन्द्र ने कहा कि लक्ष्मण, अग्नि अगर जलावे तो कौन पसन्द करेगा ? अग्नि यदि शरीर में शक्ति बढ़ावे, तेजस्विता बढ़ावे, तब तो वह सबको प्रिय होगी। वैसे हर व्यक्ति के शरीर में अग्नि विद्यमान है, और जब वह मन्द पड़ जाती है, तब व्यक्ति चिन्तित हो जाता है कि यह अग्नि प्रज्वलित कैसे हो। पर दोष तब होता है, जब अग्नि एक सीमा लाँघ जाती है।

जब शंकर जी ने पार्वती को कथा सुनाते हुए कहा—

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ।। ४/१७/८

—तो पार्वती जी ने आश्चर्य से सोचा कि यह भगवान् की कथा हो रही है या क्रोध का वर्णन हो रहा है ? शंकर जी उनके मन की बात भाँपकर कहते हैं—

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा।
ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा ।।
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी।
जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी ।। ४/१७/६-७

—जिनकी कृपा से मद और मोह छूट जाते हैं, उनको कहीं स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है ? पर उनके चरित्र का यह रहस्य तो वे ही ज्ञानी मुनि जानते

हैं, जिन्होंने श्री रघुनाथ जी के चरणों में प्रीति जोड़ ली है। सत्य तो यह है कि भगवान् की कृपा से दुर्गुण छूटते हैं। पर इस समय भगवान् ने यह जो क्रोधरूप दुर्गुण को स्वीकार किया है, तो इसके पीछे एक रहस्य है। वे लक्ष्मण से कहते हैं—लक्ष्मण, तुम्हारा काम तुम करो। धनुष-बाण लेकर सुग्रीव के पास जाओ, लेकिन भय दिखाकर उसे दूर भगाना नहीं, बल्कि मेरे पास ले आओ—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥ ४/१८

तब लक्ष्मण जी जाते हैं और उनको तथा हनुमान् जी को लेकर सुग्रीव भगवान् श्रीराम के पास आते हैं। भगवान् ने हनुमान् जी से कहा—पहली बार तो तुम्हीं ने मुझसे कहा था कि पर्वत पर बन्दरों के राजा सुग्रीव रहते हैं, उनके पास चलिए और उनसे मैत्री कीजिए—

तेहि सन नाथ मयत्री कीजे (४/३/२)

पर इस बार तो तुमने मुझसे प्रस्ताव नहीं किया कि आप किष्किन्धा चलिए। इस पर हनुमान् जी बोले—प्रभु, रोगी जब चलने में बिल्कुल अशक्त था, तब वैद्यराज को ले गये थे। पर अब रोगी चलने योग्य हो गया है और चलकर वैद्य के पास आ सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि अब सुग्रीव कुछ स्वस्थ हो गये हैं। उनमें भोगलिप्सा की जो तीव्र वासना थी, वह अब मिट चुकी है। आपके क्रोध तथा उसका प्रतिनिधित्व करनेवाले लक्ष्मण ने सुग्रीव के मन की तीव्रतम वासना को भस्म कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि सुग्रीव स्वस्थ होकर भगवान् के चरणों में आने में समर्थ हुए हैं।

तो, क्रोध जब मर्यादित होता है, जब बुराई को विनष्ट करने के लिए, व्यक्ति को अच्छे कार्य की ओर प्रेरित करने के लिए होता है, तब वह घर में आवश्यक अग्नि के समान होता है, किन्तु जब वह अमर्यादित होता है, तब उसे एक रोग के रूप में मानते हुए काम और लोभ की श्रेणी में गिना जाता है। गोस्वामी जी लिखते ही हैं—

तात तीनि अति प्रबल खल
काम क्रोध अरु लोभ। (४/३८क)

फिर गीता में (१६/२१) भी इन तीनों का नाम एक साथ लेते हुए इन्हें नरक का द्वार कहा गया है।

रामायण में दोनों प्रकार के क्रोध आपको दिखाई देंगे। कुछ पात्र ऐसे हैं, जिनके जीवन में क्रोध सन्तुलित है। वह उस आग के समान है, जिसे घर में भोजन पकाने के बाद बुझा दिया जाता है। पर कुछ दूसरे पात्र भी हैं, जो क्रोध में इतना उन्मत्त हो जाते हैं कि उनका क्रोध ज्वाला बनकर उन्हें जलाने

लगता है। पहले प्रकार का क्रोध भगवान् राम और लक्ष्मण जी के चरित्र में दिखाई देता है और दूसरे प्रकार का क्रोध नारद, परशुराम और कैकेयी के जीवन में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर 'क्रोध पित्त नित छाती जारा' वाली बात चरितार्थ होती है। यहाँ पर इस सन्दर्भ में मैं एक संकेत यह कर दूँ कि क्रोध स्वयं क्रिया न होकर एक प्रतिक्रिया है। काम और लोभ तो क्रिया हैं, पर क्रोध प्रतिक्रिया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रोध अपने आप जन्म नहीं लेता—वह काम, लोभ और अहंकार की वृत्ति में बाधा पड़ने से प्रतिक्रिया के रूप में पैदा होता है। यदि व्यक्ति के जीवन में काम की पूर्ति में बाधा पड़े तो क्रोध आ जाएगा, या लोभी व्यक्ति के जीवन में लोभ की पूर्ति में बाधा पड़े तो वह क्रोध का शिकार होगा, या फिर अहंकारी व्यक्ति के अहंकार पर चोट लगे तो उसमें क्रोध जन्म लेगा। तात्पर्य यह है कि क्रोध जीवन में प्रतिक्रिया के रूप में आता है तथा वह अन्य अवगुणों के साथ जुड़ा हुआ आता है। रामायण में विविध पात्रों के सन्दर्भ में क्रोध का विश्लेषण किया गया है कि मनुष्य के जीवन में क्रोध कैसे आता है। काम की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होनेवाले क्रोध का साक्षात्कार आपको नारद के चरित्र में मिलेगा।

एक सज्जन ने मुझसे कहा—गीता में कहा गया है कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ २/६२

—अर्थात् जब व्यक्ति विषय का चिन्तन करता है तो उससे संग उत्पन्न होता है, संग से कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। यहाँ नारद के जीवन में काम और क्रोध तो दिखाई दे रहे हैं, पर उन्होंने जीवन में संग या तो शंकर जी का किया या ब्रह्मा का या फिर विष्णु का। फिर इनके जीवन में काम कैसे आ गया? तो, कल जो बात मैंने संकेत के रूप में कही थी, उसे स्पष्ट कर दूँ। वह यह है कि शरीर से संग तो उन्होंने ब्रह्मा-विष्णु-शंकर का किया, पर जहाँ भी जाते थे, वहाँ अप्सराओं की ही कथा सुनाते थे। वे भले ही शरीर से अप्सराओं को छोड़कर चले आये थे, पर उनके मन में तो उनके सौन्दर्य का चिन्तन प्रतिक्षण हो रहा था। और विचित्र बात यह है कि जिस काम को उन्होंने हराकर भेज दिया था, उसी का वे अनवरत चिन्तन करने लगे थे। तो, संग का तात्पर्य केवल शरीर से संग नहीं होता, अपितु मनुष्य के अन्तर्मन में जिस वस्तु का चिन्तन चलता है, वही सच्चा संग होता है। अब यह चिन्तन दो प्रकार से हुआ करता है। किसी से कह दीजिए कि इसका चिन्तन करो, तो वह उसका चिन्तन करने की चेष्टा करेगा, और अगर किसी से कह दें कि इसका चिन्तन बिलकुल मत करो, तो उसके मन में

बार-बार उसी का चिन्तन होगा। जैसे यदि कह दिया जाय कि बन्दर ध्यान में बिलकुल न आने पावे, तो उसको मन में बार-बार बन्दर ही दिखाई देगा। अब नारद जी के मन में जो काम-विजय है वह इस दूसरे प्रकार से उन्हें काम का चिन्तन करा रहा है। इसे निषेधमुख से चिन्तन कहते हैं।

एक सज्जन ने मुझे बतलाया कि एक महात्मा ने क्रोध को जीतने के उपाय लिखे हैं। उसमें सुझाया गया है कि क्रोध आने पर व्यक्ति अपने सामने शीशा रख ले और देखे कि क्रोध में शक्ल कैसी हो जाती है, तो क्रोध शान्त हो जाएगा। या फिर पानी पी ले तो क्रोध शान्त हो जायगा। मैंने उनसे विनोद में कहा कि यदि वह शीशा स्वयं देखे तब तो ठीक है, पर कोई दूसरा व्यक्ति उसके सामने यदि शीशा रख दे, तो बड़ी समस्या उठ खड़ी होगी। नारद जी के जीवन में जो क्रोध था, वह शीशे को ही लेकर था। नारद की पहली समस्या तो यह थी कि वे भगवान् विष्णु से सुन्दरता माँगते हैं। तत्पश्चात् यदि वे शीशे में देख लेते कि भगवान् ने कैसी सुन्दरता दी है, तो झगड़े से बच जाते। पर उन्होंने मान लिया कि भगवान् ने तो अब मुझे सुन्दर बना ही दिया। नारद ने कहा था—

आपन रूप देहु प्रभु मोही।
आन भाँति नहि पावौं ओही॥ १।१३१।६

इस पर भगवान् ने तुरत नारद को उत्तर दिया था—

कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ १।१३२।१

—मुनि जी, पहले यह बताइए कि यदि रोगी कुपथ्य माँगे तो क्या वैद्य देता है? आप तो रोगी हैं और मुझसे कुपथ्य माँग रहे हैं, तो फिर मैं कैसे दूँ? अब भगवान् का वाक्य तो बड़ा स्पष्ट था, पर नारद जी को वह सुनाई ही नहीं पड़ा। उनको दिखाई देना भी बन्द हो गया। भगवान् से जब उन्होंने कहा कि आप मुझे अपनी सुन्दरता दे दीजिए, आप मेरे बड़े हितैषी हैं, तो भगवान् ने कह दिया—

'जेहि बिधि होइहि परम हित'। (१।१३२)

—तुम्हारा जिसमें परम हित होगा, मैं वही करूँगा। इतना सुनकर नारद जी ने आगे भगवान् क्या कह रहे हैं यह सुनना आवश्यक नहीं समझा। वे शरीर से तो भगवान् के सामने खड़े थे, पर मन में कल्पना कर रहे थे कि मैं स्वयंवर-सभा में बैठा हुआ हूँ, विश्वमोहिनी जयमाला लेकर आयी है और मेरे गले में पहना रही है। जब व्यक्ति के मन में तीव्र मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है और वह प्रलाप करने लगता है, तब बीच-बीच में कोई सुसंगत बात भी कह

देता है। पर इसके कारण उसे स्वस्थ नहीं समझना चाहिए। वात के प्रकोप की यह विशेषता है कि रोगी में बोलने की क्षमता तो बढ़ जाती है, पर वह विवेकयुक्त वाणी का प्रयोग नहीं करता। जब सन्निपात इत्यादि में रोगी बहुत बकझक करने लगे और कभी-कभी उसके मुँह से कोई सुसंगत बात निकल भी जाए, तो लोग कहते हैं कि इसको वात हो गया है। नारद भी काम-वात से पीड़ित हो गये थे, उन्होंने भी एकाध सुसंगत बात कही—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ। (१/१३१/२)

—मेरा हितैषी भगवान् से बड़ा कोई नहीं है। भगवान् ने मन-ही-मन हँसकर कहा—नारद, बस इतनी ही बात तुमने ठीक कही कि भगवान् से बड़ा हितैषी कोई नहीं है, पर आगे जितनी बातें तुम मुझसे माँग रहे हो, वह तो कुपथ्य की याचना है। और भगवान् ने नारद को जब विदा कर दिया, तो नारद ने पहले दर्पण नहीं देखा। यह आत्म-निरीक्षण का अभाव सूचित करता है। उसके पश्चात् वे स्वयंवर-सभा में पहुँचे। वहाँ जो अन्य लोग थे, वे तो नारद को नारद ही समझ रहे थे और उसी भाव से प्रणाम भी कर रहे थे, लेकिन शंकर जी के जो दो गण उनके दोनों ओर बैठे हुए थे, वे उन्हें बन्दर की आकृतिवाला देख रहे थे। गोस्वामी जी लिखते हैं—

मुनि हित कारन कृपानिधाना।
दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥ (१/१३२/७)

शिव जी के ये दोनों गण नारद जी पर कटाक्ष करते हुए कहने लगे—

नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई। (१/१३३/२)

—वाह, भगवान् ने इन्हें कैसा सौन्दर्य दिया है!

तो भइ, अगल-बगलवालों से सदा सावधान रहना चाहिए। वे क्या कह रहे हैं, किस उद्देश्य से कह रहे हैं, पता नहीं चलता। जब दायें-बायेंवाले लोग प्रशंसा करते हैं, तो समझ में नहीं आता कि उसमें कितना व्यंग्य है और कितना कटाक्ष। बेचारे प्रशंसा के आतुर व्यक्ति तो यह समझ ही नहीं पाते। तो, यहाँ पर शिव जी के दोनों गण नारद जी को सुनाते हुए आपस में कह रहे हैं—

नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी।
इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी॥ १/१३३/३-४

—लगता है कि विश्वमोहिनी इन्हीं के गले में जयमाल डाल देंगी, ये तो दूसरे साक्षात् हरि लग रहे हैं। और नारद यह सुनकर बड़े फूल रहे हैं, अपने आपको भगवान् के समान सुन्दर समझ रहे हैं। उन्हें इससे कोई मतलब नहीं कि दूसरे

क्या समझ रहे हैं। वास्तव में होना तो यह चाहिए था कि नारद अपने को देखते, पर वे स्वयं को देखने की मनःस्थिति में नहीं हैं। फिर जब भगवान् आये और विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाल पहना दी तथा दोनों चले गये, तब दोनों रुद्रगणों ने नयी भूमिका की। उन्होंने देवर्षि नारद से कह दिया—

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई। (१।१३४।६)

—जाकर दर्पण में अपना मुँह तो देखिए। अब वे लोग यही सलाह पहले भी दे सकते थे। पर वह नहीं किया। जब नारद की पूरी दुर्दशा हो गयी और वे बेचारे व्याकुल हो गये, तब उन दोनों ने उन्हें अपना मुँह शीशे में जाकर देखने की बात कही। नारद जी तुरन्त वहाँ से उठे और—

बदन दीख मुनि बारि निहारी। (१।१३४।७)

—जल में झाँककर अपना मुँह देखा। तुलसीदास जी कहते हैं—बुद्धि आँख है और मन, शीशा।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन ॥ १।१।१-२

तो, नेत्र हैं विवेक के और दर्पण किसका है?—

श्री गुरु चरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि। (२।१)

—मन का। तात्पर्य यह कि हम विवेक की दृष्टि से अपने मन के दर्पण में झाँककर वास्तविकता को देखने की चेष्टा करें। जो अन्तर्मुख व्यक्ति है, वह अपने विवेक का प्रयोग करता हुआ अपने मन में झाँककर देखता है। लेकिन मन को दर्पण तब कहा जाएगा, जब वह दर्पण की तरह रहे। मन की दो स्थितियाँ हैं—एक जल की तरह और दूसरी, दर्पण की। जल में भी आकृति दिखाई देती है। एक क्षण के लिए जल शान्त-सा प्रतीत होता है, खड़े हो जाइए तो आकृति दिखाई पड़ती है, पर एक कंकड़ी भी अगर गिर जाय, हवा का तनिक झोंका चल जाय तो जल हिलने लगता है। और तब उसमें आकृति सही दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार जब वासना के कंकड़ से मन अशान्त और चंचल हो गया हो, तब उस अशान्त मन के द्वारा यदि व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करे, तो वह अपनी वास्तविकता को नहीं देख पाता है। नारद जी की स्थिति ऐसी ही थी, उन्हें एकान्त में शीशे में अपना मुंह देखने को नहीं मिला, उन्होंने जल में अपने मुख को देखा। अभिप्राय यह कि चंचल मन से उन्होंने अपनी ओर देखने की चेष्टा की। फलस्वरूप 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' वाली बात उनके जीवन में आ गयी। नारद जी को यह संकोच तो हुआ नहीं कि मैं बन्दर क्यों बन गया, उन्हें तो बस इसी बात पर क्रोध आ गया कि दूसरों ने

मुझे बन्दर क्यों कह दिया। और क्रोध में आकर उनके मुँह से पहली बात निकली—

होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहि सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥ १।१३५

—तुम दोनों कपटी और पापी जाकर राक्षस हो जाओ। तुमने हमारी हँसी की उसका फल भोगो!

अब रुद्रगणों की भूल यह थी कि वे नारद को हँसी का पात्र बना रहे थे। नारद जी का उपहास देखकर उन्हें आनन्द की अनुभूति हो रही थी। परिणाम यह होता है कि नारद जी का क्रोध अनियंत्रित हो गया। फलस्वरूप उन्हें ध्यान नहीं रह गया कि मैं क्या कर रहा हूँ। उन्होंने शिवगणों को राक्षस बना दिया। उनके क्रोध ने रावण और कुम्भकर्ण की सृष्टि कर दी। वह तो अच्छा हुआ कि उतने पर ही उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ, नहीं तो भगवान् उनकी चिकित्सा कैसे करते? नारद जी के जीवन में क्रोध के पूरे क्रम का वर्णन गोस्वामी जी करते हैं। वे लिखते हैं—

लोभ के इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥ ३।३८ ख

—लोभ को इच्छा और दम्भ का बल है, काम को केवल स्त्री का बल है और क्रोध को कठोर वचनों का बल है। जब व्यक्ति को क्रोध आता है तो वह अनाप-शनाप बकने लगता है। नारद जी का क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर गया। भगवान् तो थे नहीं, पर क्रोध में उनके होंठ फड़कने लगे, मानो तैयारी करने लगे कि चलकर क्या कहना है—

फरकत अधर कोप मन माहीं।
सपदि चले कमलापति पाहीं ॥ १।१३५।२

—क्रोध की तीव्रता इतनी थी कि सोचने लगे—

देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।
जगत मोरि उपहास कराई ॥ १।१३५।३

—या तो मैं आत्महत्या कर लूँगा, या फिर भगवान् को शाप दूँगा। मुझे उन्होंने संसार में हँसी का पात्र बना दिया। ऐसी स्थिति देखकर भगवान् ने तुरत निर्णय लिया कि अब तो नारद को स्वस्थ करना ही है। उन्होंने विचार किया कि विश्वमोहिनी को इनसे छीनकर इनके काम की चिकित्सा तो कर ही दी है, अब जरा इनके क्रोध की भी चिकित्सा कर दें, इनका क्रोध किसी दूसरे पर न उतरे, इससे अच्छा है कि जितना उतारना हो मुझ पर ही उतार लें—ऐसा सोच भगवान् बीच मार्ग में ही आकर खड़े हो गये—

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। (१/१३५/४)

और नारद से पूछ दिया—

मुनि कहँ चले बिकल की नाईं। (१/१३५/५)

—मुनि जी, इतने व्याकुल होकर कहाँ जा रहे हैं? सुनते ही नारद के मन में बड़ा क्रोध आ गया—

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। (१/१३५/६)

वे अपने मन में कहने लगे—देखो तो, अभी मेरे सामने विश्वमोहिनी को लिये खड़े हैं, मेरा विवाह होने नहीं दिया, मुझे बन्दर की आकृति दे दी और अब बड़े भोलेपन से पूछ रहे हैं कि आप कहाँ जा रहे हैं, जैसे पता ही न हो कि मैं कहा जा रहा हूँ! पर भगवान् का व्यंग्य क्या था?—यही कि जब व्यक्ति का मस्तिष्क क्रोध में अनियंत्रित हो जाता है, तो वह आवेश में उसे जहाँ जाना है उसकी उल्टी दिशा में जाने लगता है। यदि किसी समझदार व्यक्ति को पता लग जाय कि यह उल्टी दिशा में जा रहा है, तो वह पूछे बिना नहीं रहेगा कि इधर कहाँ जा रहे हो? यही भगवान् के व्यंग्य का तात्पर्य था। नारद जा तो रहे थे भगवान् के पास, पर सड़क पकड़ ली थी नरक की, क्योंकि—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ (५/३८)

—काम-क्रोध आदि का रास्ता तो नरक को ले जाता है। नारद जी ने अपना पूरा क्रोध भगवान् पर उतार दिया बोले—

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।
अति असंक मन सदा उछाहू॥
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।
अब लगि तुम्हहि न काहूँ साधा॥
भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा॥ १/१३६/१-५

जब नारद अपना तीव्र पित्तज्वर भगवान् के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करके उतार चुके, तब भगवान् ने प्रत्युत्तर में कुछ न कह, शान्त रह नारद को ठण्डा कर दिया। यदि एक व्यक्ति क्रोध करे और सामनेवाला भी क्रोध करे, तब तो दोनों का क्रोध अग्नि को भड़काएगा ही। अतएव भगवान् ने—

श्राप सीस धरि हरषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्हि।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि॥१/१३७

—नारद का दिया श्राप अपने सिर पर चढ़ा लिया तथा हृदय में हर्षित हो उन्होंने नारद जी से बहुत विनती की और अपनी माया की प्रबलता खींच ली। बस, त्योंही नारद का आवेश दूर हो गया और उन्होंने भगवान् के चरणों को पकड़ लिया तथा ग्लानि में भरकर बोले—

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे (१/१३७/४)

—प्रभु, मैंने न जाने क्या-क्या आपको कह डाला। भगवान् ने कहा—नारद, तुम थोड़े ही कह रहे थे, वह तो तुम्हारा क्रोध कह रहा था। वह अब चला गया है। अब तो जो तुम हो वही हो, इसीलिए इस प्रकार विनम्र भाषा का प्रयोग कर रहे हो।

तो, यह कामजन्य क्रोध का स्वरूप है, जो नारद के चरित्र में दिखाई देता है। लोभजन्य क्रोध का स्वरूप कैकेयी के चरित्र में है। कैकेयी में जब लोभ आता है, तब वे कोपभवन में बैठ जाती हैं। परशुराम जी के जीवन में आनेवाला क्रोध अहंकार की प्रतिक्रिया के रूप में उपजता है। उन्हें लगता है कि सामनेवाले व्यक्ति ने उचित आदर नहीं दिया। उन्हें अपने अहं पर इतनी आस्था है कि स्वयं अपना परिचय देते हुए कहते हैं—

बाल ब्रह्मचारी अति कोही (१/२७१/६)

—मैं बालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ!

तो, जो क्रोध काम, लोभ और अहं की प्रतिक्रिया-स्वरूप उपजता है, वह पहले देखने में उस अग्नि के समान है, जिसे हम घर में रोज देखते हैं और इस नित्य देखने के फलस्वरूप उसे इतनी भयानक नहीं मानते हैं। पर यदि हम जरा सी भी असावधानी करें तो वह जैसे कपड़े को पकड़कर व्यक्ति को, घर को जला देती है, उसी प्रकार यह क्रोध भी व्यक्ति के असावधान रहने पर उसे और समाज को संत्रस्त कर देता है।

□□

प्रवचन-२

आयुर्वेद शास्त्र की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में त्रिधातु विद्यमान है। और जब इन धातुओं में समता रहती है तब मनुष्य स्वस्थ रहते हैं, और जब इनमें विषमता आ जाती है तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। जैसा कि सूत्र में कहा गया है—

रोगस्त्रिधातु वैषम्यम् धातु साम्यमरोग्यता।

ठीक इसी सूत्र को मानस में मन के संदर्भ में भी प्रस्तुत किया गया है। जैसे शरीर में वात-पित्त-कफ त्रिधातु के रूप में विद्यमान हैं, इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के मन में भी काम, लोभ और क्रोध विद्यमान हैं। जब तक ये व्यक्ति के जीवन में तथा समाज में संतुलित और नियमित रूप में रहते हैं, व्यक्ति स्वस्थ रहता है तथा समाज भी स्वस्थ रहता है और जब इनमें अतिरेक उत्पन्न हो जाता है, असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं।

पूर्व प्रवचन में आपके सामने क्रोध की चर्चा प्रारम्भ की गई थी। श्रीरामचरितमानस में क्रोध का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसमें दो प्रकार के दृष्टान्त आपके सामने आते हैं। एक ओर ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे जिसमें यह दिखाई देता है कि क्रोध का कितना संतुलित उपयोग किया जा सकता है। और दूसरी ओर इसका जो अतिरेक है, अनियंत्रण है, वह भी सामने आता है। एक प्रसंग आता है जिसमें क्रोध के नियंत्रित और अनियंत्रित, दोनों ही रूपों को सांकेतिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। भगवान् शंकर सती से वियोग होने के पश्चात् आत्मलीन हो जाते हैं। उन्हें किसी बहिरंग व्यक्ति या बहिरंग सुख की आवश्यकता नहीं है। किन्तु भगवान् शंकर के इस अन्तर्मुखता का लाभ तारकासुर उठाता है। तारकासुर ने ब्रह्मा से यह वरदान माँगा कि मैं अमर होना चाहता हूँ। ब्रह्मा ने कहा कि यह सम्भव नहीं है, तुम्हें मृत्यु का कोई-न-कोई मार्ग तो स्वीकार करना ही होगा। तारकासुर ने सोचा कि भगवान् शंकर जब आत्मलीन हैं, तो ऐसी परिस्थिति में वे विवाह तो करेंगे नहीं। और जब विवाह नहीं करेंगे तो पुत्र भी नहीं होगा। यह विचार कर उसने ब्रह्माजी से यही वरदान माँगा कि महाराज, यदि मेरी मृत्यु हो तो शंकर जी के द्वारा उत्पन्न पुत्र के द्वारा ही हो, अन्य किसी प्रकार से नहीं। शंकर जी तो कामशून्य हैं। उसके फलस्वरूप उनमें निश्चलता और

निष्क्रियता भी है, जो उनके जीवन में परम शांति का हेतु है। पर भगवान् शिव जिस अन्तर्मुखता में हैं, उसका लाभ तारकासुर को प्राप्त हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि शंकर जी का यह सद्गुण अनजाने में ही दुर्गुण की शक्ति बन गया है। इससे मुक्ति पाने के लिये देवताओं ने सोचा कि शंकर जी के मन में किसी प्रकार से काम की सृष्टि की जाय। देवताओं ने काम का आह्वान किया और उसे अपनी विपत्ति सुनाई तथा कहा कि तुम भगवान शंकर के ऊपर आक्रमण करो और उनके मन में विवाह की लालसा उत्पन्न करो। जब भगवान् शंकर के मन में विवाह की लालसा उत्पन्न होगी तो वे विवाह करेंगे। तब उनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उससे इस दैत्य का संहार होगा। काम बड़ी उत्कृष्ट वृत्ति को लेकर चला। उसमें उसका अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। उसने लोक-कल्याण के लिए यह कार्य स्वीकार किया। और यही नहीं अपितु उसने यह भी अच्छी तरह से समझ लिया कि इस कार्य में मेरा विनाश अवश्यम्भावी है। रामचरितमानस में कहा गया है—

सुरन्ह कही निज बिपति सब,
सुनि मन कीन्ह बिचार।। १/८३

—देवताओं ने जब अपनी विपत्ति कह सुनाई, तो काम ने मन में सोचा,

संभु बिरोध न कुशल मोहि,

—कि शिव के विरोध में मेरा कल्याण नहीं है।

लेकिन इतना होते हुए भी एक नई बात हुई। व्यक्ति मृत्यु की कल्पना से भयभीत हो जाता है, पर काम मृत्यु की कल्पना से भयभीत नहीं हुआ, अपितु आनन्द से भर उठा।

संभु बिरोध न कुशल मोहि,
बिहसि कहेउ अस मार।। १/८३

—बड़े जोर से हँसकर कामदेव ने देवताओं से कहा—"जिस काम में आप लोग मुझे नियुक्त कर रहे हैं, उसमें तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है।" देवताओं ने कहा,—"तब तो आपके मन में हिचकिचाहट होगी।" उसने कहा—'नहीं'।

तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।
श्रुति कह परम धरम उपकारा।।
परहित लागि तजइ जो देही।
सतत संत प्रसंसहि तेही।। १/८३/१-२

—इससे मेरे जीवन का एक सार्थक सदुपयोग हो जायगा। लोक-कल्याण के लिए अगर मेरा विनाश भी हो जाता है तो इसका कम-से-कम

एक शुभ परिणाम यह होगा कि मेरा शाश्वत कलंक धुल जायगा। काम को लोगों ने केवल बुराई के रूप में देखा है, पर अब वे यह स्वीकार करेंगे कि काम का एक दूसरा पक्ष भी है। इसीलिए मैं इस कार्य को स्वीकार करता हूँ।" पर आगे बड़ी विचित्र-सी बात आती है कि शंकरजी काम को जला देते हैं। तो जो परोपकार रूप धर्म का आश्रय लेकर आया था, उसे जलाना क्या भगवान् शंकर के लिए उचित था? गोस्वामी जी इन विकारों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहते हैं कि काम इतना परोपकारी है तथा लोककल्याण का सृजन करनेवाला है, तब उसे खल कह कर सम्बोधित क्यों किया गया। मानस में कहा गया है—

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
३/३८ (क)

—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल खल हैं।'

इसका तात्पर्य यह है कि काम भले ही परोपकारी प्रतीत हो रहा हो पर यथार्थ में वह खल है। कैसे? गोस्वामी जो एक संकेत देते हैं कि काम पहले क्रोध करता है। शंकर जी भी क्रोध करते हैं, पर बाद में। यह बड़ा विचित्र प्रसंग है। गोस्वामीजो लिखते हैं कि काम जब शंकर जी की ओर चला तो—

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू। १/८३/६

—वह क्रोध में भर गया। काम ने क्रोध किया और भगवान् शिव भी क्रोध करते हैं। तो क्रोध के दो रूप सामने आ गए। परिष्कृत क्रोध कितना नियंत्रित होता है, यह शंकर जी के जीवन में है। और अपरिष्कृत क्रोध कितना घातक होता है, यह काम के जीवन में है। दोनों पात्र आमने-सामने हैं। गोस्वामी जी बड़े विस्तार से वर्णन करते हैं कि जिस समय कामदेव भगवान् शंकर पर आक्रमण करने को चला, तब चेतन व्यक्तियों की तो कौन कहे, जड़ प्रकृति में भी काम का संचार हो गया। इसका तात्पर्य क्या? काम की यही वृत्ति कि उसने नियंत्रण में रहना ही नहीं सीखा। उसने यह सोचा कि जब मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो क्यों न मृत्यु के पहले जाते-जाते अपना चमत्कार दिखा दूँ। यह एक चिकित्सक की वृत्ति नहीं है। अगर चिकित्सक के हाथ में छुरी हो तो और यदि उसे रोगी की शल्य चिकित्सा करनी पड़े तो अपनी तेज धारवाली छुरी का उतना ही प्रयोग करता है, जितना रोगी की स्वस्थता के लिए आवश्यक है। लेकिन यदि चिकित्सक के मन में यह भाव आ जाय कि इस छुरी में जो तेज धार है, उससे हम और अंग काट कर जरा इसका चमत्कार दिखा दें—तब तो उसे चिकित्सक नहीं मानेगा। तब तो वह दण्ड का पात्र बन

जायगा। इसी प्रकार काम भी अपराधी बन गया। कैसे? गोस्वामी जी ने एक शब्द लिखा—'कोपेउ' उसे क्रोध आ गया। परिणाम क्या हुआ?

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू।
छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥ १/८३/६

—जितने वेदरूपी पुल बने थे, उसने उन सबको तोड़कर रख दिया। नदी का जल क्या है? वह जीवन का प्रतीक है। पर कब? जब नदी का जल व्यक्ति को तृप्त करे, उसकी मलिनता को धोवे, तो जल जीवन है। पर यदि नदी में इतनी बाढ़ आ जाय कि पुलों को नष्ट कर दे, गाँवों को बहा दे तो फिर उस नदी की वेगवती धारा की प्रशंसा कोई नहीं करेगा, क्योंकि वह तो विनाश करने पर तुली हुई है। तो इस काम की जो वेगवती धारा प्रवाहित हुई, उसने पहला काम यही किया कि वेदों ने जिस सेतु का निर्माण किया था उसका ध्वंस कर दिया। और श्रुति-सेतु का ध्वंस करने के पश्चात् काम के द्वारा जो महान् दुष्कृत्य होता है, उसका गोस्वामी जी विस्तार से वर्णन करते हैं—

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना।
धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा।
सभय बिबेक कटकु सब भागा॥ १/८३/८
सदग्रन्थ पर्बत कन्दरहि महुँ,
जाइ तेहि अवसर दुरे॥ १।८३। छं०

—'ब्रह्मचर्य, नाना प्रकार के संयम, धीरज, धर्म, ज्ञान और विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य आदि विवेक की सारी सेना डरकर भाग गयी।' यही नहीं जितने सद्ग्रन्थ थे, वे जाकर पर्वत की गुफाओं में छिप गये। इसके फलस्वरूप न किसी के अन्तःकरण में पढ़ने की रुचि है, न ब्रह्मचर्य में रुचि है और न ही सदाचार में रुचि है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में एकमात्र तीव्रतम भोगलालसा की वृत्ति विद्यमान है। तो काम का क्रोध कितना अनियंत्रित था? देवताओं ने जब कहा कि तुम भगवान् शंकर के मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न करो, तो उसका कर्तव्य मात्र इतना ही था कि वह शान्तिपूर्वक जाकर शंकर जी के मन में विवाह की इच्छा उत्पन्न करता। इस प्रकार वह अपनी क्षमता का संतुलित उपयोग करता। लेकिन वह सारे संसार को कामग्रस्त बनाकर अपनी क्षमता का दुरुपयोग करता है। उसका काम और क्रोध दोनों अनियंत्रित करता है। और जब यह काम कैलाश पर्वत के शिखर पर शंकर जी के पास पहुँचा तो गोस्वामी जी ने बड़ी विचित्र बात लिखी—वहाँ पहुँचकर काम

ने जैसे ही शंकर जी को देखा, बस, उनके दर्शनमात्र से संसार को एक बहुत बढ़िया लाभ मिल गया। क्या?

सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू।
भयउ जथाथिति सबु संसारू॥ १।८५।२

—ज्योंही काम ने भगवान् शंकर के इस घनीभूत वैराग्यमय रूप को देखा, तो ऐसा विचलित हुआ कि उसकी सारी क्षमताएँ समाप्त हो गयीं। और लोग जो तीव्र काम-वासना से व्याकुल हो चुके थे, उन्होंने अपूर्व प्रशान्ति का अनुभव किया, जैसे मानो उन्होंने काम के द्वारा शिव का दर्शन पाया हो। इस प्रकार काम लोगों में अनियंत्रित वासना का संचार करता है और भगवान् शिव?

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव, सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि, प्रनत कल्पतरु नाम॥ १।१०६

—'वे समर्थ, सर्वज्ञ और कल्याणस्वरूप हैं। सब कलाओं और गुणों के निधान हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य के भण्डार हैं। उनका नाम शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष है।'

भगवान् शिव को देखकर काम स्वयं भी प्रशान्त हो जाता है और सब प्राणी भी शान्त हो जाते हैं। और अब भगवान् शिव की दृष्टि देखिए। काम बहुत चेष्टा करने के बाद भी भगवान् शंकर को प्रभावित नहीं कर पाता। शंकर जी वट-वृक्ष की छाया में बैठे हुए थे, वहीं पास में आम का वृक्ष भी था। काम को आम का वृक्ष बड़ा प्रिय है। वह आम के वृक्ष पर जाकर बैठ जाता है और अपने पुष्प के धनुष और बाण के द्वारा भगवान् शंकर के हृदय में सम्मोहन बाण का प्रहार करता है। काम का वह बाण जाकर भगवान् शंकर के हृदय में लगता है। तो जैसे कोई नेत्र मूँदकर बैठा हो और उसे अचानक चोट लग जाय तो उसकी दृष्टि बाहर की ओर जाती है, उसी प्रकार बाण लगने पर भगवान् शंकर तुरन्त नेत्र खोलकर यह देखते हैं कि मेरे अन्तर में बाहर जाने की वृत्ति कहाँ से आ गई। और तब गोस्वामी जी ने लिखा—

भयउ ईस मन छोभु बिसेषी।
नयन उघारि सकल दिसि देखी॥ १।८६।४

—उनकी पैनी दृष्टि से काम छिपा नहीं रह पाया। यही उनकी दृष्टि की विशेषता है। काम छिपा हुआ कहाँ है? आम के पत्तों की आड़ में। वह छोटा और बड़ा बनने की कला में बड़ा निपुण है। जब उसने शंकर जी के ऊपर आक्रमण किया, तब वह आम के पत्ते की आड़ में जा छिपा। काम का एक रूप तो वह है जो घातक और विध्वंसक है तथा प्रत्यक्ष रूप से हमारे

आपके जीवन में दिखाई देता है। पर काम कभी-कभी अन्तर्मन में इतनी सूक्ष्मता से विद्यमान रहता है कि साधारण व्यक्ति उस काम को नहीं देख पाता। यह काम का दूसरा रूप है। लेकिन जिनकी दृष्टि भगवान् शंकर के समान सूक्ष्म है, उन पर काम चाहे कितना भी छिपकर आक्रमण क्यों न करे, वे उसे पहचान जाते हैं। शंकर जी की दृष्टि काम पर पड़ जाती है। और तब? तब शंकर जी भी क्रोध करते हैं।

भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका। १/८६/५

—सारे देवता और संसार के लोग डर गए। डर कर सारे देवताओं ने सोचा कि इस बेचारे को हमने भेजा, अब न जाने क्या होगा। देवताओं को लगा कि शंकर जी अब अपना तीसरा नेत्र खोलने वाले हैं। प्रलयकाल में जब सारी सृष्टि को मिटाना होता है, तभी भगवान् शंकर अपनी तीसरी आँख खोलते हैं और तब सारी सृष्टि पूरी तरह से जलकर नष्ट हो जाती है। तो देवताओं को ऐसा लगा अब तो पूरे विश्व का विनाश हो जाएगा। जो भूल काम ने की, अगर वही भूल शिव के क्रोध में भी हो तो यह उचित न होगा। काम ने क्रोध में आकर सबको कामग्रस्त बना दिया और शंकर जी क्रोध में आकर यदि सारे विश्व को ही जलाकर नष्ट कर दें तो इसका अभिप्राय होगा कि क्रोध पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। आकाश में देवताओं ने उपस्थित होकर तुरन्त भगवान् शंकर से कहा—महाराज, कृपा कीजिए, कृपा कीजिए। आप क्रोध का उपसंहार कीजिए, शान्त हो जाइए! भगवान् शंकर को उनकी बात सुनकर आश्चर्य हो रहा था, क्योंकि उनका क्रोध सूक्ष्म और नियंत्रित है। वह काम के क्रोध से बिलकुल उल्टा है। कैसे? भगवान् शंकर ने अपना नेत्र खोला अवश्य, पर उससे सारी सृष्टि और सारे व्यक्तियों की तो बात क्या, यहाँ तक कि जिस आम के वृक्ष पर काम बैठा था, वह भी नहीं जला। केवल काम ही जला। गोस्वामी जी लिखते हैं—

तब सिवँ तीसर नयन उघारा।
चितवत कामु भयउ जरि छारा॥ १/८६/६

—काम को छोड़कर, उन्होंने आम के पेड़ का एक पत्ता भी नहीं जलने दिया। और इसका अर्थ क्या? यह कि शंकर जी अपने क्रोध पर कितना नियन्त्रण किये हुए हैं। काम आम के वृक्ष का आश्रय लेता है। आम का फल बड़ा रसीला होता है। उसके रस को पीने की व्यग्रता किसे नहीं होगी। ठीक इसी प्रकार से यह काम जब आम का आश्रय लेता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि मन में जो रस की पिपासा है, उस रस का आश्रय लेकर काम व्यक्ति के अन्तःकरण में वासना का संचार करता है। पर भगवान् शंकर को लगता

है कि काम इस रस के प्यास का दुरुपयोग करता है। इस रस के प्यास का सदुपयोग भी तो हो सकता है। और वह सदुपयोग हमें दिखाई देता है महानतम भक्त कागभुसुण्डि के जीवन में।

कागभुसुण्डि सुमेरु पर्वत के चार शिखरों पर विभिन्न प्रकार की साधना करते हैं उनमें से एक शिखर पर आम का वृक्ष लगा हुआ है। और वे उस आम के वृक्ष का उपयोग क्या करते हैं? यहाँ पर बड़ा मार्मिक संकेत है। आम के वृक्ष का उपयोग काम भी करता है और कागभुसुण्डि जी भी। इसका अभिप्राय यह है कि रस की जो प्यास है, उसी से प्रेरित होकर व्यक्ति कामी बनता है और उसी से भक्त। कागभुसुण्डि जी चार शिखरों पर, जहाँ 'क्रमशः वट, पीपल, पाकर और आम्र के एक-एक विशाल वृक्ष हैं, बैठकर अलग-अलग प्रकार की साधना करते हैं। तो आम के वृक्ष के नीचे बैठकर वे क्या करते हैं?

आँब छाँह कर मानस पूजा। ७/५६/६

—आम की छाया में वे मानस पूजा करते हैं। यह 'मानस पूजा' बड़ा सार्थक शब्द है। आम से रस की इच्छा मन में उत्पन्न होती है। और मन में मनोज जुड़ा हुआ है। मनुष्य के अन्तःकरण में रस की आकांक्षा है। और यही आकांक्षा मन को ब्रह्मरस की खोज में ले जाती है तथा अनन्त तृप्ति का अनुभव प्राप्त करती है।

भगवान् शंकर इतनी सीमित मात्रा में क्रोध का प्रयोग करते हैं कि वासनात्मक अनियंत्रित काम तो नष्ट हो जाय पर समाज में रस की वृत्ति का विनाश न होने पावे। वे इतने नियंत्रित हैं कि काम की पत्नी के आने पर उस पर क्रोध नहीं करते। काम के साथ उसकी पत्नी रति भी आई थी पर शंकर जी ने काम को जलाया रति को नहीं। क्यों? जितने भक्त हैं वे भगवान् से यही तो माँगते हैं कि उन्हें काम नहीं चाहिए पर रति तो चाहिए ही। रामायण में भरत जी से बढ़कर भक्त नहीं है। उनको काम की आकांक्षा है ही नहीं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान। १/२०४

—"उन्हें न तो अर्थ चाहिए, न धर्म चाहिए, न काम चाहिए और न मोक्ष ही चाहिए।" तो क्या कुछ नहीं चाहिए? वे कहते हैं—"एक चीज चाहिए।" क्या—?

जनम जनम रति राम पद। १/२०४

—'रति चाहिए।' रति में जो तद्रूपता है, वह किस भक्त को नहीं चाहिए? भक्त भी तो यही चाहता है कि हम भगवान् का ध्यान करते-करते भगवान् के तद्रूप हो जायें, एकाकार हो जायें। तो भगवान् शंकर रति को भी जीवित रखते हैं और रस की आकांक्षा को भी। और इतना ही नहीं,

काम को जीवित कर देने के लिए अनुरोध करती है। वह कहती है कि महाराज, आपने काम को जला दिया, पर मेरा क्या होगा? और इसका अभिप्राय यह है कि भले ही भरत जी जैसे भक्तों के जीवन में कामशून्य रति हो सकती है, पर सर्वथा कामशून्य हो जाना तो संसार के सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं है। मेरा तो अपना पति मिलन तभी होगा, जब काम विद्यमान रहेगा। तो भगवान् शंकर तुरन्त यह कह देते हैं—

अब तें रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि......। १/८६/६

—"अबसे तुम्हारे पति का नाम अनंग होगा, और वह अशरीरी होकर रहेगा।" जब इतने पर भी रति सन्तुष्ट नहीं होती तब भगवान् शंकर कहते हैं—

जब जदुबंश कृष्न अवतारा।
होइहि हरन महा महिभारा॥
कृष्न तनय होइहि पति तोरा।
बचनु अन्यथा होइ न मोरा॥ १/८७/१-२

—'जब भगवान् द्वापरयुग में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेंगे, तब तुम्हारा पति उनके पुत्र के रूप में जन्म लेगा।' इसका अभिप्राय यह है कि कामना सहित रति स्वीकार कर पाना तो केवल ईश्वर के लिए ही सम्भव है। इसकी परिपूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में मिलती है। श्रीकृष्ण के द्वारा गोपियों को स्वीकार कर लेना तथा साथ ही कुब्जा को भी स्वीकार कर लेना मानो समग्र काम सहित रति को स्वीकार कर लेने का प्रतीक है। यही इसका तात्पर्य है।

भगवान् शंकर में नियंत्रण की पराकाष्ठा है। उनका क्रोध पूर्णरूपेण नियन्त्रित है। उनके जीवन में कोई भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जिस पर उनका नियन्त्रण न हो। यही भगवान् शंकर की स्वस्थता का प्रतीक है। और दूसरे पक्ष में वही काम के अस्वस्थता का प्रतीक है। रामायण के प्रारम्भ में मानो यह स्वीकार किया गया है कि जब हम शिव के समान केवल बुराई को मिलने के लिए क्रोध को स्वीकार करते हैं, जितनी मात्रा से केवल बुराई मिट जाय पर भलाई पर आँच न आने पावे तो ऐसी परिस्थिति में क्रोध समाज और व्यक्ति को स्वस्थ बनानेवाला होता है। यह पित्त की उस भूमिका को पूरा करनेवाला है, जिसके द्वारा भोजन पचकर शरीर को शक्ति प्रदान करता है तथा व्यक्ति को सुखी बनाता है। अनियन्त्रित क्रोध समाज और व्यक्ति को नाश की ओर ले जाता है। इसके अनेक दृष्टान्त हैं। सबसे बुरे क्रोध का चित्रण मिलता है

रावण के चरित्र में। रावण के जीवन में अनियन्त्रित क्रोध की पराकाष्ठा है। इसीलिए रामायण में एक संकेत किया है कि कुछ भले व्यक्ति भी ऐसे होते हैं, जो क्रोध के वशीभूत प्रतीत होते हैं। ठीक वैसे ही कुछ स्वस्थ लोगों को भी ज्वर हो जाता है। तो कभी-कभी ऐसा दिखाई देता है कि भले व्यक्ति भी क्रोध में भर गये हैं, पर उनके क्रोध के पीछे समाज में बुराई मिटाने और भलाई करने की तीव्र आकांक्षा रहती है। जैसे एक परिवार में, जिसके प्रमुख व्यक्ति की यह धारणा होती है कि हमारे परिवार का प्रत्येक सदस्य अच्छा बने, बुरा कार्य न करे, तो ऐसी स्थिति में कभी-कभी प्रमुख व्यक्ति क्रोध भी करता है, तो वहाँ पर क्रोध की सार्थकता हो सकती है। पर जहाँ पर क्रोध केवल विनाशकारी हो, अनियन्त्रित हो, जैसे क्रोध में आकर कोई व्यक्ति किसी का घर फूंक दे, तो चाहे वह भला व्यक्ति क्यों न हो, उसका क्रोध समाज के लिए घातक ही होगा। मान लीजिए कि किसी ने ऐसे व्यक्ति के घर में आग लगा दी हो, जो बड़ा बुरा व्यक्ति है। पर आग तो केवल उस बुरे व्यक्ति के घर तक ही सीमित नहीं रहेगी उससे उसके आसपास के भले व्यक्तियों का घर भी तो जलेगा। एक बार आग लगने के बाद क्या किसी के लिए यह सम्भव है कि वह उसे नियन्त्रित कर ले, एक ही घर जलने दे, अन्य घर न जले।

क्रोध स्वयं एक प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया में यदि एक व्यक्ति क्रोध करता है, तो दूसरा व्यक्ति उसे देखकर क्रोधित हो उठता है, और इस प्रकार से क्रोध की प्रतिक्रिया समाज में व्याप्त हो जाती है। रामायण में इसका दृष्टान्तस्वरूप है, प्रतापभानु का चरित्र। प्रतापभानु के मन में अमर होने की इच्छा उत्पन्न होती है। कपट मुनि उसकी इस दुर्बलता का लाभ उठाता है। कपट मुनि ने कहा कि यह तभी सम्भव है, जब हम अपने हाथों से भोजन बना कर ब्राह्मणों को खिलाएँगे। और ब्राह्मण जब प्रसन्न होकर आशीर्वाद देंगे, तो उसके परिणामस्वरूप तुम अमर हो जावोगे, तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। प्रतापभानु उस प्रलोभन में फँस जाता है। वह इसे स्वीकार कर लेता है। इसके पश्चात् कपट मुनि का मित्र कालकेतु योजनाबद्ध रूप से भोजन का निर्माण करता है और इस पद्धति से करता है, जैसे अन्न और फल का मिश्रण हो। पर उसमें ब्राह्मण का मांस भी डाल दिया गया था। जिस समय आमंत्रित ब्राह्मणों को भोजन के लिए बिठा दिया, उसी समय आकाशवाणी हुई—

भयेउ रसोईं भूसुर मांसू।
सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥ १/१७२/७

और आकाशवाणी में एक आदेश मिला—

बिप्रबृन्द उठि उठि गृह जाहू।
है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥ १/१७२/८

—"ब्राह्मणों, इस रसोई में ब्राह्मण का माँस मिला है, आप लोग यहाँ से उठकर अपने-अपने घर को चले जाइए। इस अन्न को खाने में बड़ी हानि है।" उन्हें भगवान् से जो यह संदेश मिला उसे यदि विद्वानों और पण्डितों ने सर्वांग रूप से मान लिया होता और अन्न को छोड़कर अपने-अपने घर चले जाते तो शायद क्रोध की प्रतिक्रिया का जन्म न होता। लेकिन उन्होंने आकाशवाणी की आधी बात मानी और एक तीव्रतम प्रतिक्रिया उनके मन में उत्पन्न हो गई। क्या? आकाशवाणी में तो यही कहा गया था—"उठि उठि गृह जाहू।" अर्थात् अपने-अपने घर को चले जाइए। भोजन मत कीजिए। यह सुनकर उन्होंने भोजन तो छोड़ ही दिया, पर घर जाने के पूर्व वे स्वयं न्यायाधीश के सिंहासन पर बैठ गये। न्यायाधीश की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह स्वयं संतुलित हो, समत्व में स्थित हो, तभी वह ठीक-ठीक न्याय कर पावेगा। यदि वह स्वयं क्रोधग्रस्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में वह न्याय नहीं कर पावेगा। क्रोधग्रस्त हो जाने पर तो वह जो करेगा, वह बदले की वृत्ति से करेगा। ब्राह्मणों ने विचारक की भूमिका के स्थान पर बदले की वृत्ति को स्वीकार कर लिया और वे कहने लगे—कि अरे, मूर्ख राजा, तूने हम लोगों का धर्म नष्ट करने की चेष्टा की। और साथ-ही-साथ वे ईश्वर को धन्यवाद देते हुए बोले,

ईश्वर राखा धर्म हमारा। १/१७३/२

—"यह तो ईश्वर ने हमारे धर्म की रक्षा की।" अब कहाँ शंकर जी का क्रोध और कहाँ इन लोगों का क्रोध। आकाशवाणी ने यह नहीं कहा था कि प्रतापभानु का इसमें कोई दोष है। केवल यही कहा था कि अन्न में मांस मिला हुआ है। लेकिन इन लोगों ने जब शाप दिया तो यह कह कर—

जँहसि तैं समेत परिवारा ॥१/१७३/२

—'जाओ, सारे परिवार सहित राक्षस हो जाओ।" तो उनका ऐसा कहना क्या उचित था? उन्हें इतना क्रोध आ गया कि उसके सारे परिवार को राक्षस होने का शाप दे दिया। यहाँ पर एक बड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक बात कही गई है कि ब्राह्मणों ने शाप देकर सोचा कि हमने अपराधी को दण्ड दे दिया, पर अचानक उनको फिर से आकाशवाणी सुनाई पड़ी। आकाशवाणी में ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा गया कि आप लोगों ने इसे जो शाप दिया—

'जँहसि तैं समेत परिवारा'।

—वह विचार करके नहीं दिया। यदि प्रतापभानु विचारशून्य हो गया था तो कम-से-कम आप लोगों को तो विचार की भूमिका में रहना चाहिए था। एक व्यक्ति विचारशून्य हो जाय और इसके बदले में दूसरा व्यक्ति भी विचारशून्य होकर आक्रमण करने लगे, एक व्यक्ति लोभग्रस्त हो जाय और दूसरा व्यक्ति क्रोध से ग्रस्त हो जाय और दोनों आपस में टकराएँ और शाप देकर किसी को राक्षस बना दें तो यह समाज के लिए कितना घातक होगा। ब्राह्मणों को जो क्रोध हुआ, उससे ब्राह्मणों की महिमा नहीं बढ़ी अपितु उसके दुष्परिणाम को सारे समाज को न जाने कितने वर्षों तक भोगना पड़ा। भगवान् ने मुनियों की प्रशंसा नहीं की क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी को राक्षस बना देगा, बुरा बना देगा, तो बुरा व्यक्ति तो बुरा बनकर और भी बुराई करने की चेष्टा करने लगेगा। और यही होता है प्रतापभानु के जीवन में।

यह प्रतापभानु अगले जन्म में रावण बन जाता है। रावण के रूप में उसके जीवन का एक ही व्रत था—कि मुनियों को खाना। यह किस बात की प्रतिक्रिया थी? यही कि मैं इन ब्राह्मणों को भोजन करा रहा था और इन लोगों ने मुझे शाप दे दिया, बिना अपराध के। तो मैं इन सबको खाऊँगा। अब ये मेरा क्या कर सकते हैं। यही क्रोध की हिंसक प्रतिक्रिया रावण के चरित्र में विद्यमान है। भगवान् राम को दण्डकारण्य में रावण के क्रोध के प्रतिक्रिया दिखाई देती है। दण्डकारण्य में वे देखते हैं कि वहाँ मुनियों के हड्डियों का ढेर लगा हुआ है। भगवान् पूछते हैं कि यह हड्डियों का ढेर कैसा है? इस पर मुनि लोग आँखों में आँसू भरकर कहते हैं—

'निसिचर निकर सकल मुनि खाए।' ३/८/८

—'निशाचरों ने मुनियों को खा लिया है।' पर विचित्र विडम्बना तो यह है कि इन निशाचरों का निर्माण भी तो मुनियों ने ही किया था। अपना ही निर्माण अपने को खा जाय—यह एक बड़ी विचित्र स्थिति है। और ऐसा ही होता है कि अपने से उत्पन्न हुआ दुर्गुण अपने ही लिए तथा समाज के लिए घातक हो सकता है। यह रावण क्या है? यह है ब्राह्मणों के शाप से आहत प्रतापभानु के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया। प्रतापभानु के चरित्र के बारे में लिखा हुआ है—

दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।
सुनइ सास्त्र बिधि बेद पुराना॥
नाना बापीं कूप तड़ागा।
सुमन बाटिका सुंदर बागा॥

बिप्र भवन सुर भवन सुहाए।
सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए॥ १/१५४/६-८

—इस तरह से पवित्रतम निर्माण कार्य प्रतापभानु के द्वारा हुआ करते थे। और वही जब रावण बनता है, तो उसके जीवन में एक ही व्रत है। क्या?

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आग लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। (१/१८२/६)

—प्रतापभानु के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया ही आज रावण के रूप में प्रगट होती है कि हमने भला बनने की चेष्टा की और बदले में हमें शाप देकर हमारे पूरे परिवार को नष्ट कर दिया गया। तो अब मैं बुराई के द्वारा इसका बदला लूँगा। और इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप रावण सारे समाज पर अत्याचार करता है। तो जहाँ शिव जी का क्रोध समाज के लिए कल्याणकारी है, वहीं रावण के रूप में इस क्रोध का विकृत स्वरूप समाज के लिए अभिशाप बनकर आता है।

रामचरितमानस में कहा गया है कि किसी के जीवन में अगर केवल काम है, तो वह बात ज्वर से पीड़ित है। अगर किसी के जीवन में केवल लोभ है, तो वह कफ ज्वर से पीड़ित है और किसी के जीवन में क्रोध है तो वह पित्त ज्वर से पीड़ित है। पर यदि किसी के जीवन में ये तीनों हों, तब क्या होगा? गोस्वामी जी कहते हैं कि अगर तीनों हों तो समझ लेना चाहिए कि—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
(७/१२० (ख) / ३०-३२)

—बस सन्निपात रोग हो गया है। तो यहाँ पर रावण के संदर्भ में सन्निपात शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अंगद जब रावण की सभा में गए, तो रावण बहुत बक-झक करने लगा। अंगद उसे बड़े ध्यान से सुन रहे थे। रावण ने पूछा—"तुमने मेरी बात को बड़े ध्यान से सुना, कुछ समझ में आया?"—'क्या समझे?' अंगद ने कहा—"मैं यही देखने तो आया था कि तुम्हें कौन-सा रोग हुआ है? और अब समझ में आ गया"—

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।
भएसि कालबस खल मनुजादा॥ (६/३२ख/६)

—'तुम्हें तो सन्निपात हो गया है। जब हनुमानजी जैसा वैद्य भी आकर तुम्हारी चिकित्सा नहीं कर पाया, तब तो तुम्हारी चिकित्सा होना मुश्किल है।'',

भगवान राम ने सीधे लंका पर आक्रमण न करके पहले हनुमान जी को वहाँ भेजा था। इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या है? रामचरितमानस में जहाँ पर मानस रोगों का वर्णन आया है, वहाँ मानस रोगों के वर्णन के साथ ही यह भी कहा गया है कि मन के रोगों को नष्ट करने वाला वैद्य चाहिए। और वह वैद्य कौन है?

सदगुर बैद बचन बिस्वासा। (७/१२१ख/६)

—''सदगुरु ही वह वैद्य हैं।'' हनुमान जी को रावण के पास भेजने का तात्पर्य यह था कि हनुमान जी ही वस्तुतः सद्गुरु हैं। वे शंकर के अवतार हैं। इसलिए वे वैद्यों के वैद्य हैं। शंकर जी के लिए रामायण में कहा गया है—

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। १/११०/५

—वे त्रिभुवन के गुरु और सब से बड़े वैद्य हैं। और रावण तो एक कल्प में उनके गण के रूप में उनका शिष्य भी रह चुका है। तो भगवान् का तात्पर्य यह है कि रावण जैसा रोगी, जो अपने रोग के द्वारा स्वयं तो दुख पा ही रहा है, पर अपने से भी अधिक वह सारे समाज को दुख में डाल रहा है, उसके रोग का निदान हो जाय। भगवान् चेष्टा यह करते हैं कि रावण के वध की आवश्यकता न पड़े। तात्पर्य यह है—जैसे, जब हम किसी रोगी को चिकित्सक के पास ले जाते हैं, तो वह पहले तो यही चेष्टा करता है कि औषधि के द्वारा ही रोग शान्त हो जाय। पर अगर औषधि के द्वारा रोग शान्त न हो तो फिर उसकी शल्य चिकित्सा भी करनी पड़ती है। भगवान् ने हनुमान जी को इसीलिए भेजा कि तुम सद्गुरु के रूप में वैद्य हो, इसलिए तुम जाकर रावण के रोग को देखो और उसे दूर करने की चेष्टा करो। रावण यदि स्वस्थ्य हो जाय, तो इसके परिणामस्वरूप समाज भी स्वस्थ होगा। रावण की अस्वस्थता सारे समाज को विनाश की ओर ले जा रही है। पर हनुमान जी जैसे वैद्य भी चेष्टा करके रावण की चिकित्सा नहीं कर पाते। क्यों? मानस रोग के संदर्भ में पहला सूत्र यह है—

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा

—जो सद्गुरु हैं, वे ही वैद्य हैं और रोगी का पहला कर्तव्य है कि वह उनके वचनों पर विश्वास करे। हनुमान जी ने यहाँ पर रावण के रोगों को पकड़ लिया और उन्होंने यह निर्णय किया कि रावण के रोगों की यह जड़ यदि एक बार नष्ट हो जाय, तो उसके अन्य रोग स्वयं नष्ट हो जाएँगे। इसीलिए

हनुमान जी ने तुरन्त रावण से अनुरोध किया कि मैं तुम्हें कुछ और छोड़ने के लिए नहीं कहता, तुम केवल एक ही वस्तु छोड़ दो। क्या?

मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

—''तुम तमरूप अभिमान का त्याग कर दो।'' हनुमान जी इतने उदार हैं कि उसे केवल एक ही वस्तु छोड़ने के लिए कहते हैं। यदि बहुत कुपथ्य करने वाला रोगी हो और उसको वैद्य अगर सब कुछ छोड़ने के लिए कहे तो शायद वह एक भी बात न माने। तो चतुर वैद्य कहता है कि अच्छा भइ, भले सब न छोड़ सको, पर इतना तो छोड़ ही दो। हनुमान जी ने कहा कि सारे विकारों को भले न छोड़ सको, पर अभिमान छोड़ दो। और अभिमान में भी एक शब्द जोड़ दिया—''तम अभिमान।'' चलो, सतोगुणी, रजोगुणी अभिमान को न भी छोड़ पाओ तो कोई बात नहीं है, पर कम-से-कम तमोगुणी अभिमान को छोड़ दो। और इसका उत्तर रावण की ओर से क्या मिला?

बोला बिहसि महाअभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ज्ञानी॥ ५/२३/२

रावण ने हँसकर कहा—अच्छा। तो अब मुझे तुम जैसा ज्ञानी गुरु मिला। तुम मेरी चिकित्सा करने, मुझे स्वस्थ बनाने के लिए आये हो? रावण का हँसकर ऐसा कहने का तात्पर्य यह था कि मुझ जैसा ज्ञानी को एक बन्दर शिक्षा देने आया है। रावण का रोग इतना बढ़ गया है कि हनुमान जी की हितकर बातें भी उसे नहीं सुहाती।

जो सामान्य रोगी होता है, वह तो वैद्य की बातों पर विश्वास करता है और उसके कहे अनुसार पथ्य आदि करता है। पर जब रोग असाध्य हो जाता है और रोगी की मृत्यु होनेवाली होती है, तो बहुधा उसकी प्रकृति कुपथ्य की दिशा में होने लगती है, मानो उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है। वैद्य जो कहता है वह उसका ठीक उल्टा ही करता है। इसीलिए लिखा हुआ है—

काल दंड गहि काहु न मारा।
हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥ ६/३६/७

''काल लाठी लेकर किसी को नहीं मारता। वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है।'' हनुमान जी समझ लेते हैं कि रावण जैसा व्यक्ति स्वस्थ होने की स्थिति में नहीं है। और बाद में अंगद आकर घोषणा कर देते हैं कि तुम तो सन्निपात के रोगी हो। काम, क्रोध और लोभ, इनमें से यदि एक भी जीवन में आ जाए, तो व्यक्ति अस्वस्थ होकर मर सकता है, पर तुममें तो तीनों ही पराकाष्ठा में है। और विशेषकर क्रोध में रावण ने सारे संसार का

अहित तो किया ही, पर अपना तो सर्वनाश ही कर लिया। आप देखते हैं कि रावण विभीषण को निकाल देता है। यह रावण के क्रोध का एक दृष्टान्त है। रावण निर्णय लेता है कि मैं अपने क्रोध की आग में विभीषण को जला दूँगा।

रावण क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषनु राखेउ दीन्हेउ राज अखंड ॥ ५/४९ (क)

—"जब रावण ने अपने क्रोध की आग में विभीषण को जलाने की चेष्टा की, तो संत्रस्त हो विभीषण श्रीराम की शरण में गए। भगवान् श्री राघवेन्द्र ने उस क्रोध की आग को बुझाकर उनको बचा ही नहीं लिया, अपितु उन्हें लंका का अखण्ड राज्य दिया।" तो रावण के मन में क्रोध की प्रतिक्रिया आयी क्यों? हुआ यह कि जिस समय रावण ने हनुमान जी को मृत्युदण्ड दिया तो विभीषण आ गए। और विभीषण ने आकर कहा—

नीति बिरोध न मारिअ दूता। ५/२३/७

—'दूत को मारना नीति के विरुद्ध है,'' इसे मत मारिए।

आन दंड कछु करिअ गोसाँई। ५/२३/८

—"इसे कोई दूसरा दण्ड दे दीजिए।" सभी लोगों ने इसका समर्थन किया—

सबहीं कहा मंत्र भल भाई। ५/२३/८

और तब रावण ने तुरन्त कहा—

सुनत बिहसि बोला दसकंधर।
अंगभंग करि पठइय बंदर ॥ ५/२३/१०

—इस बन्दर के शरीर का अंग-भंग करके उसे वापस भेज दो। और कहा—

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ॥ ५/२४

—"बन्दर की ममता उसके पूँछ में होती है। इसलिए उसकी पूँछ में कपड़ा लपेट तेल में डुबाकर उसमें आग लगा दो।" यही उसके लिए उचित दण्ड होगा। और हनुमान जी के पूँछ में आग लगा दी गयी। उस आग से हनुमान जी ने सारी लंका जला दी। रावण को विभीषण पर क्रोध यह देखकर आया कि सारी लंका जल गयी पर विभीषण का घर नहीं जला। यह बड़ी विचित्र बात है। वह सन्तोष भी कर सकता था कि चलो सब घर जल गए, पर एक घर तो बच गया। हनुमान जी ने विभीषण का घर क्यों नहीं जलाया? यही उनकी नीति कुशलता थी। हनुमान जी वस्तुतः रावण पर साम,

दाम, दण्ड और भेद—इन चारों का प्रयोग करते हैं। जब उन्होंने साम का प्रयोग किया तो रावण को भाषण देकर समझाया—

बिनती करउँ जोरि कर रावन।
सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥ ५/२१/७

—"हे रावण, मैं हाथ जोड़कर तुमसे विनती करता हूँ, तुम अभिमान छोड़कर मेरी सीख को सुनो।" फिर उसे दाम नीति का लोभ भी दिखाया—

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू ॥ ५/२२/१

—"तुम भगवान् के चरणकमल को हृदय में धारण कर लंका का अचल राज्य करो।" हनुमान चालीसा में आप लोग पढ़ते हैं—

तुम्हरो मंत्र बिभीषण माना।
लंकेश्वर भये सब जग जाना ॥

वह मंत्र कौन-सा है, यह हनुमान चालीसा में नहीं लिखा है। पर रामायण में उसका उत्तर मिल सकता है। वह मंत्र तो हनुमान जी ने पहले विभीषण को नहीं, रावण को दिया था, पर रावण ने उस मंत्र का तिरस्कार कर दिया और विभीषण ने उसे ग्रहण कर लिया। हनुमान जी का मंत्र क्या था? यह कि भगवान् के चरणों को तुम हृदय में धारण करो और लंका का अचल राज्य करो। यह सुनकर रावण बिगड़ खड़ा हुआ और बोला—क्या मैं तुम्हारे कहने से लंका का राजा बनूँगा? वह तो मैं पहले से ही हूँ। विभीषण ने इस मंत्र को पूरी तरह से समझ लिया था कि यह बिलकुल ठीक है। वे जब भगवान् राम की ओर चले तो हनुमान जी के मंत्र का स्मरण करते हुए चले—

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माहीं ॥
देखिहउँ जाइ चरन जलजाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥ ५/४१/४-५

—"विभीषण हर्षित होकर मन में अनेक मनोरथ करते हुए श्री रघुनाथ जी के पास चले कि मैं जाकर भगवान् के कोमल तथा लालवर्ण के सुन्दर चरण कमलों का दर्शन करूँगा, जो सेवकों को सुख देने वाले हैं।" और भगवान् राम उन्हें लंकेश कहकर लंका का अचल राज्य दे देते हैं। हनुमान जी ने रावण को दाम नीति के द्वारा भी आकृष्ट करना चाहा। पर वह भी सफल नहीं हुआ। फिर उन्होंने दण्ड नीति का प्रयोग करते हुए रावण को धमकाया भी। उन्होंने रावण से कहा—

संकर सहस बिष्नु अज तोही।
सकहिं न राखि रामकर द्रोही ॥ ५/२२/८

"तुम जैसे राम के द्रोही को हजारों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं बचा सकेंगे।" दण्ड नीति के भी असफल हो जाने पर अन्त में हनुमान जी ने भेद नीति का बड़ा कड़ा प्रयोग किया। भेद नीति का तात्पर्य यह है कि जहाँ दो व्यक्ति मिलकर अधिक शक्तिशाली हो रहे हों, वहाँ उन दोनों में फूट पैदा कर दिया जाय। पर यहाँ हनुमान जी की चेष्टा दूसरे प्रकार की है। वह स्वार्थी राजनीतिज्ञों जैसी चेष्टा नहीं है। हनुमान जी ने देखा कि विभीषण और रावण का एक साथ रहना मानो अच्छाई और बुराई का एक साथ रहना है और इस तरह साथ रहने में अच्छाई का लाभ बुराई को मिल रहा है। क्योंकि विभीषण जी जितनी पूजा-पाठ करते हैं, वह सब रावण के द्वारा दिए गए सभी सुविधाओं के बीच ही तो करते हैं। इसलिए उसका पुण्य भी रावण को मिलता जाता है। इस प्रकार वह पुण्य पाप को शक्ति प्रदान कर रहा है। इसलिए हनुमान जी ने निर्णय लिया कि पुण्य को पाप से अलग कर देना चाहिए। इसलिए हनुमान जी भेद नीति का प्रयोग करते हैं। उनका भेद नीति का प्रयोग क्या था ?

जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं ॥ ५।२५।६

—"उन्होंने सबका घर तो जला दिया, पर विभीषण का घर छोड़ दिया।" और उससे रावण के मन में सचमुच जबरदस्त भेद पड़ गया। रावण ने सोचा कि जब मैंने इस बन्दर को मृत्युदण्ड दिया, तो इसी विभीषण ने आकर रोका था। और इस बन्दर ने सारा नगर जलाया पर इसी का घर छोड़ दिया। लगता है, दोनों मिले हुए हैं। अब मैं इसको सह नहीं सकता। हनुमान जी को अभीष्ट भी यही था कि रावण के मन में विभीषण के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाय। और तब रावण ने क्या किया ? वह यह भी निर्णय कर सकता था कि विभीषण को कैद में डाल दे। पर उसने ऐसा नहीं किया। रावण ने सोचा, कि विभीषण अगर तुम समझते हो कि तुम्हारा घर नहीं जला, तो भले ही उस बन्दर ने तुझे न जलाया हो पर—"रावण क्रोध अनल निज" मैं अपने क्रोध की अग्नि के द्वारा तुम्हें जलाकर नष्ट कर दूँगा। और इस तरह लात मार कर उसे घर से निकाल देता है। अगर रावण क्रोध में आकर विभीषण को निकाल न देता, तो लंका का रहस्य श्री राम को ज्ञात न हो पाता तथा कम-से-कम भौतिक संदर्भ में रावण को जीतना उतना सरल नहीं होता। इस तरह रावण का जो अनियंत्रित क्रोध है, अनियंत्रित काम है तथा जो अनियंत्रित लोभ है,

वही उसके विनाश का कारण बनता है। वह अपने अनियंत्रित काम के फल-स्वरूप जगज्जननी का अपहरण कर लेता है, तथा अनियंत्रित लोभ के कारण अपने बड़े भाई कुबेर के धन को छीनने में संकोच का अनुभव नहीं करता। जब काम की इतनी तीव्रता आ जाय कि कोई जगन्माता पर ही कुदृष्टि डाले और क्रोध इतना तीव्र हो जाय कि बिना अच्छे-बुरे का विचार किये, सबको विनष्ट करने पर तुल जाय, तो ऐसी स्थिति में वह सन्निपात से ग्रस्त तो है ही। और इसीलिए अंगद ने रावण से कह दिया कि तुम्हारी बक-झक से पता चल गया है कि तुम सन्निपात की भी अन्तिम दशा में हो। सन्निपात में रोगी जब मरने को होता है, तब बहुत बक-झक करता है। अंगद ने कह दिया—

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।
भएसि कालबस खल मनुजादा ॥ ६।२२ख।६

—"वह निश्चित समझ ले कि तेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है।"

यदि हम विचार करके देखें तो क्रोध मूलतः प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रोध किस तरह विनाशकारी हो सकता है यह हम मुनियों के शाप से प्रतापभानु का रावण बनने तथा उसके पश्चात् रावण के रूप में मुनियों के नाश करने में देख पाते हैं। रामायण में क्रोध के अनेक सूक्ष्म रूप दिखाये गये हैं। रामचरितमानस में सबसे सूक्ष्म क्रोध भगवान् राम में परिलक्षित होता है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में गोस्वामी जी चार व्यक्तियों की तुलना करते हैं। वहाँ हम जनक जी, लक्ष्मण जी, परशुराम जी तथा भगवान् राम के क्रोध को देख पाते हैं। अपने-अपने स्थान पर ये चारों व्यक्ति महान हैं, लेकिन इन चारों के क्रोध की शैली में अन्तर है। पहले तो जनक जी को क्रोध आया ? क्यों ? जब धनुष नहीं टूटा और सारे राजा निराश होकर बैठ गए तब सबसे पहले जनक जी को क्रोध आया। गोस्वामी जी लिखते हैं—

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने।
बोले बचन रोस जनु साने ॥ १।२५०।६

—गोस्वामी जी यहाँ पर थोड़ी चतुराई करते हैं। वे यह नहीं कहते कि जनक क्रोध में भरकर बोले। वे कहते हैं—"बोले बचन रोस जनु साने।" जनक जी के शब्द ऐसे थे कि लगता था कि वे क्रोध में सने हुए हैं। इसका अर्थ क्या है ? यह क्रोध का सोद्देश्य प्रयोग था। जैसे कहीं बड़ी ठंडक हो जाय, तो गरमी पैदा करने के लिए हम शरीर को रगड़ते हैं। गर्मी पैदा करने का उद्देश्य है शरीर को ठंडा होने से बचाना, मृत्यु से बचाना। इस समय तो सारे राजा धनुष तोड़ने में असमर्थ हो रहे हैं और भगवान् राम और लक्ष्मण ऐसे प्रशान्त भाव से बैठे हुए हैं कि जैसे धनुष के टूटने-न-टूटने से

उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जो धनुष तोड़ नहीं सकते, वे चेष्टा करके थक गए, और जो उसे तोड़ने में समर्थ हैं, वे तोड़ने के लिए उद्यत नहीं हो रहे हैं। इसलिए चतुर जनक ने थोड़ी गर्मी पैदा कर दी, और उनका गर्मी पैदा करना सार्थक था। बात यह है कि ब्रह्म में न तो राग है न रोष। ब्रह्म का लक्षण यही बताया गया है—

जद्यपि सम नहि राग न रोसू।

जब वेदान्त के ब्रह्म में राग और रोष नहीं है, तो वह सक्रिय भी नहीं है। वह तो दृष्टा और कूटस्थ है। पुष्पवाटिका प्रसंग में श्री सीता जी भगवान् राम के मन में राग उत्पन्न करती है। अब रोष की सृष्टि भी आवश्यक थी। पुष्पवाटिका में तो उन्होंने राग को स्वीकार कर लिया, पर धनुष यज्ञ के प्रसंग में आए तो अपनी भूमिका उन्होंने बदल दी।

रामायण में इस बात पर विचार किया गया है कि ईश्वर कैसा है? जितने धर्म हैं, वे भी ईश्वर का वर्णन अलग-अलग ढंग से करते हैं। जितने धर्माचार्य और सन्त हैं, उनके वर्णन में भी कभी-कभी अलगाव दिखाई देता है। तो क्या सब गलत कहते हैं? इसका बड़ा सार्थक उत्तर रामायण में श्री भरत जी देते हैं। क्या? वे कहते हैं कि भइ, यदि एक ही वृक्ष को कोई आम का वृक्ष कहे कोई नारियल का और कोई अमरूद का, तो यह सन्देह हो जाएगा कि कहीं ये झूठ तो नहीं बोल रहे हैं? क्योंकि एक ही वृक्ष आम, अमरूद और नारियल का कैसे हो सकता है? पर भरत जी कहते हैं—

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। २।२६६।८

—मैं अपने प्रभु का स्वभाव जानता हूँ। लोगों ने कहा, महाराज, यह तो सभी दावा करते हैं कि हम प्रभु के स्वभाव को जानते हैं। अच्छा, बताइये प्रभु का स्वभाव कैसा है? तो भरत जी ने एक सूत्र दे दिया। क्या?

देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। २।२६६।८

—प्रभु का स्वभाव कल्पतरु के समान है। इसका अर्थ क्या है? और वृक्षों के बारे में तो यह निश्चित है कि जिस फल का वह वृक्ष है, उसमें वही फल लगेगा। पर कल्पवृक्ष के नीचे जाकर आप जो कल्पना करेंगे, वही साकार होकर, फलवती होकर आपको प्राप्त होगा। अगर किसी ने कल्पतरु के नीचे जाकर नारियल की कल्पना की, तो उसे नारियल मिल जायेगा और वह कहेगा कि यह नारियल का पेड़ है। यदि किसी ने आम की कल्पना की तो उसे आम मिल जायेगा और वह कहेगा कि यह आम है। वस्तुतः कल्पतरु तो कल्पना के अनुरूप ही रूप धारण करता है। श्री भरत जी ने कहा कि ईश्वर कल्पतरु है। उसके नीचे जिस सन्त ने, जिस आचार्य ने, जिस व्यक्ति ने जाकर ईश्वर की जैसी

कल्पना की, उसकी कल्पना के अनुरूप ईश्वर उसी रूप में व्यवहार करता है। रामायण में इसका बड़ा विस्तृत प्रसंग है। यहाँ पर भी भगवान् राम की दो भूमिकाएँ हैं। एक पुष्पवाटिका-प्रसंग में और दूसरी धनुष यज्ञ-प्रसंग में। पुष्पवाटिका-प्रसंग में भगवान् राम ने श्री सीता जी के आभूषणों की ध्वनि सुनी। आभूषणों की ध्वनि सुनकर उनके हृदय में राग उत्पन्न हुआ। वहाँ पर लक्ष्मण जी की भूमिका क्या थी? लक्ष्मण जी ने वाटिका का मोरपंख उठा लिया और भगवान् के माथे पर मोरपंख से उनका श्रृंगार कर दिया। इसलिए जब लताकुंज से भगवान् राम प्रकट हुए तो सखियों की दृष्टि उन पर जाती है और वे देखती हैं—

मोर पंख सिर सोहत नीके। १/१३२/२

—उनकी शोभा बड़ी अद्भुत है। उनके सिर पर मोरपंख शोभायमान है। दूसरे दिन जनक जी के दूत आये और उन्होंने उन्हें धनुषयज्ञ में चलने का निमंत्रण दिया। भगवान् राम जब चलने लगे तो लक्ष्मण जी ने कहा—वह मोरपंख क्यों नहीं बाँध रहे हैं, जो पुष्पवाटिका में बाँधा था। भगवान् राम ने कहा—नहीं, मोरपंख की शोभा पुष्पवाटिका में थी, यहाँ नहीं। यहाँ तो अब वेदान्ती की सभा में जा रहे हैं। जनक जी वेदान्ती हैं न! वे तो ब्रह्म को सम मानते हैं। पर भक्त तो मानता है कि ईश्वर पक्षधर है। श्री सीता जी मूर्तिमती भक्ति हैं, इसलिए पुष्पवाटिका में पक्षधरता ठीक थी। पर वेदान्ती मानता है कि ब्रह्म सम है। ऐसी परिस्थिति में अगर यहाँ पक्ष बाँधकर चलूँगा तो वेदान्ती को ब्रह्म ही नहीं लगूँगा। इसलिए उनकी सभा में तो उन्हीं के वेश में चलें। वेदान्ती की सभा में ईश्वर सम है और भक्ति की सभा में ईश्वर पक्षधर है। ईश्वर दोनों रूप में हैं। पर जनक को अनुभव हुआ कि समत्व तो ठीक नहीं है। जो घटनाएँ हो रही हैं, श्री राम उससे प्रभावित नहीं हो रहे हैं। उसमें कोई राग भी दिखाई नहीं दे रहा है। अगर उनमें सीता जी के प्रति राग होता, तो ज्योंही बन्दी ने कहा कि धनुष तोड़ने वाले को सीता जी मिलेंगी, वे जल्दी से उठकर धनुष को तोड़कर सीता जी को पा लेते। पर वे शान्त बैठे हुए हैं। उनमें न राग है न द्वेष और न कोई आकांक्षा। वहाँ तो वेदान्त का ब्रह्म साकार होकर वेदान्ती की सभा में बैठा हुआ है। वे तो जनक के कल्पतरु हैं। इसलिए जनक ब्रह्म की जो कल्पना किये बैठे हैं, उसके अनुरूप ही वे शान्त और निष्क्रिय हैं। पर अब जनक जी को ऐसा लगा कि जब निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनाया गया तो यह सगुण ब्रह्म यदि द्रष्टा, कूटस्थ और अचल बना रहेगा और उसमें सक्रियता नहीं आयेगी, तब तो यहाँ विवाह का प्रसंग ही पूरा नहीं हो सकेगा। विवाह का प्रश्न तो तभी आयेगा, जब इनके मन में

राग हो। और धनुष तो तब टूटेगा, जब इनको क्रोध आवे। अतः राग की सृष्टि के बाद जनक को यह अनुभव हुआ कि इस ब्रह्म में अब रोष की सृष्टि की आवश्यकता है। इसलिए उन्होंने रोष भरे वाक्य कहे। उसका परिणाम क्या हुआ? ब्रह्म में तो कोई गर्मी नहीं आई, पर लक्ष्मण जी में आ गयी। जनक जी के वाक्य सुनकर भगवान् राम पर तो कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे बिल्कुल प्रशान्त बैठे रहे। लेकिन जब लक्ष्मण जी ने उनकी बात सुनी तो—

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नैन रिसौंहें॥ १/२५१/८

—"वे तमतमा उठे, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, ओठ फड़कने लगे तथा नेत्र क्रोध से लाल हो गये।" उनमें क्रोध तो दिखायी दे रहा है, पर—

कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपद कमल सिरु, बोले गिरा प्रमान॥ १/२५२

—तात्पर्य यह कि लक्ष्मण जी का क्रोध हर क्षण नियंत्रित दिखाई दे रहा है। जब वे बोलने चले तो भगवान् के चरणों में प्रणाम किया और तब जनक को बहुत कस करके फटकारा। उसका लाभ यह हुआ कि लक्ष्मण जी की गर्मी के बाद भगवान् राम में भी कुछ उष्मा आ गयी। लक्ष्मण जी में यह गर्मी न आयी होती तो शायद भगवान् में भी न आती। पर लक्ष्मण जी का क्रोध कितना नियंत्रित है। उनके ओठ फड़क रहे थे। ऐसा लग रहा था कि लक्ष्मण जी क्रोध में काँप रहे हैं। लेकिन वे नियंत्रित कितने हैं? लक्ष्मण जी भगवान् राम के सामने कह रहे थे—

सुनहु भानुकुल पंकज भानू।
कहहुँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं।
कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना।
को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ।
कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं॥ १/२५२/४-८

तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥
लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोग सब भूप डेराने। १/२५३/१-२

—हे भानुकुल कमल सूर्य, मैं बिना किसी अभिमान के कहता हूँ, सुनिये—यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ, तो ब्रह्माण्ड को गेंद की तरह उठा लूँ और उसे कच्चे घड़े की भाँति फोड़ डालूँ। मैं सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ, तो यह बेचारा धनुष भला कौन सी चीज है। नाथ! आज्ञा हो तो कुछ खेल करूँ। उसे भी देखिए। धनुष को कमल की डंडी की तरह चढ़ाकर, उसे लेकर सौ योजन तक दौड़ता चला जाऊँ। हे नाथ! आपके प्रताप के बल से धनुष को कुकुरमुत्ते की तरह तोड़ दूँ। यदि ऐसा न करूँ तो प्रभु के चरणों की शपथ है, फिर मैं धनुष और तरकस को कभी हाथ में भी न लूँगा।

ज्योंही लक्ष्मण जी क्रोध भरे बचन बोले कि पृथ्वी डगमगा उठी और दिशाओं के हाथी काँप गये। सभी लोग और सभी राजा डर गये।

लगता है, लक्ष्मण जी में असीम क्रोध है, पर वे इस क्रोध में भी कितने संतुलित हैं। यदि कोई व्यक्ति क्रोध में भरा हुआ हो, काँप रहा हो तो उसको समझाने पर भी उसके समझने में बहुत विलम्ब लगता है। उस समय बुद्धि काम नहीं करती। लेकिन धन्य हैं लक्ष्मण जी, उनका अपने क्रोध पर अद्भुत नियंत्रण है। भगवान् राम को लक्ष्मण जी से एक वाक्य भी नहीं कहना पड़ा कि तुम बैठ जाओ, शान्त हो जाओ, क्रोध मत करो। बस उन्होंने एक ही कार्य किया। क्या?

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे। १/२५३/४

उन्होंने लक्ष्मण जी की ओर इशारा मात्र किया। बस दोनों की आँखें मिलीं और भगवान् राम के नेत्रों को देखते ही लक्ष्मण जी शान्त होकर बैठ गए। जो उद्देश्य था वह पूरा हो गया। भगवान् राम ने नेत्रों से नेत्र मिलाकर कह दिया, अब आगे का काम मैं करूँगा। अब तुम्हारी भूमिका समाप्त। और लक्ष्मण जी तुरन्त प्रशान्त होकर बैठ जाते हैं। वे भगवान् को प्रेरित कर देते हैं और उसके पश्चात् जब शिवजी का धनुष टूट जाता है, तब परशुराम जी आते हैं। वे स्वयं काम तथा लोभ के विजेता हैं। उनके जीवन में कभी काम का संचार नहीं हुआ, लोभ का भी संचार नहीं हुआ। लेकिन जैसे कभी-कभी औषधिजन्य रोग उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही परशुराम के जीवन में औषधि-जन्य रोग की उत्पत्ति हुई है। कभी-कभी कफ को शान्त करने के लिए उष्ण

दवा दे दी जाती है तो पित्त प्रबल हो जाता है। लोभ रूप कफ को शान्त करने के लिए परशुराम जी ने जो दवा ली तो क्रोध की गर्मी बहुत बढ़ गयी। अब क्रोध की दो मूर्तियाँ—परशुराम जी और लक्ष्मणजी एक दूसरे के आमने-सामने हैं। यह एक विचित्र बात है कि एक क्रोधी दूसरे क्रोधी को पसन्द नहीं करता। क्रोध करने वाला यह चाहता है कि हम क्रोध करें पर सामने वाला बिलकुल क्रोध न करे। क्रोध में हम चाहे जितना बकें-झकें, जो कुछ करें, लेकिन सामनेवाला उसको चुपचाप सहता रहे। जब परशुराम जी को पता चला कि लक्ष्मण का स्वभाव मुझसे मिलता-जुलता है, तो वे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने भगवान् राम से यह कह दिया कि राम, तुम तो बड़े अच्छे हो, लेकिन यह तुम्हारा जो भाई है—

अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें। १/२७/८७

—यह बड़ा टेढ़ा देखनेवाला है। इसकी आँखों में भी टेढ़ापन है और स्वभाव में भी—

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही। १/२७६/८

—तो लक्ष्मण जी ने तो बढ़िया व्यंगात्मक उत्तर दिया। लक्ष्मणजी ने कहा—

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। १/२७७/१

—महाराज, मैं तो आपका अनुयायी हूँ। आपको तो प्रसन्न होना चाहिए कि आपका एक अनुयायी भी है यहाँ पर। पर बड़ी विचित्र बात है कि आप स्वयं तो क्रोध करते हैं, और जब मैं क्रोध करता हूँ तो उसे बुरा मानते हैं। लक्ष्मण जी ने आगे कहा—

क्रोधु पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं,
चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥१/२७७

—महाराज, यह क्रोध आपका बड़ा घातक है। इस क्रोध का परित्याग कर दीजिये। परशुराम जी ने भगवान् राम को उलाहना देते हुए कहा कि तुम बड़े भले और श्रेष्ठ स्वभाव वाले व्यक्ति हो लेकिन तुम्हारे चरित्र में एक बहुत बड़ी कमी है। वह यह कि तुम दूसरों को नियंत्रित नहीं कर सकते। तुम समाज का नेतृत्व करने योग्य नहीं हो। जो स्वयं भला हो, पर दूसरों को भला न बना सके, अपने विचारों के अनुकूल अगर न चला सके तो यह उसकी कमी मानी जायगी। और सचमुच चारों ओर लक्ष्मण जी की आलोचना होने लगी। लोग कहने लगे कि परशुराम तो क्रोधी हैं इसलिए लक्ष्मण ही शान्त हो जायें। दोनों अगर क्रोध करते रहेंगे तो न जाने क्या होगा।

लक्ष्मण जी परशुराम पर बार-बार व्यंग कर रहे हैं। जितने स्त्री-

पुरुष हैं, वे परशुराम की आलोचना खुलकर तो नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ मालूम है कि आलोचना का पुरस्कार क्या मिलेगा? लेकिन लक्ष्मण जी के विषय में यह निश्चित विश्वास था कि यह जो बालक है, भले ही क्रोधी हो, पर अपनी आलोचना सुनकर परशुराम के समान व्यवहार नहीं करेगा। सब के सब काँपते हुए एक स्वर से कहने लगे—

थर थर कांपहि पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥ १/२७/७५

—यह छोटा कुमार तो बड़ा खोटा है। जनक जी भी घबरा गये और उन्होंने भगवान् राम से संकेत करते हुए कहा—

मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं। १/२७७/४

—इस बालक के द्वारा अनुचित बोला जा रहा है। उसे रोकना चाहिए, यह ठीक नहीं है। भगवान् राम पर उसकी प्रतिक्रिया क्या हुई? उन्हें क्रोध आया। लेकिन यह क्रोध कितना विचित्र है? उसमें न कठोर शब्द हैं, न ओठ फड़क रहे हैं—कुछ भी नहीं। भगवान् राम के क्रोध की अभिव्यक्ति कितनी सूक्ष्म थी और उस अभिव्यक्ति को स्वीकार करने वाला कितना नियंत्रित था कि देखकर आश्चर्य होता है। पहले तो ऐसा लग रहा था कि लक्ष्मण को कोई नियंत्रित नहीं कर सकता। पर भगवान् राम का क्रोध जब प्रगट हुआ तो एक अद्भुत दृश्य देखने में आया। उन्होंने अपना क्रोध वाणी में प्रगट नहीं किया? तो क्या किया? गोस्वामी जी ने लिखा—

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि, नयन तरेरे राम। १/२७८

—उन्होंने जरा सी आँखें टेढ़ी कर दीं। और इतना नियंत्रण लक्ष्मण जी का—

गुर समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम। १/२७८

—एक क्षण में भगवान् राम ने नेत्रों के द्वारा लक्ष्मण जी को शान्त कर दिया। अनियंत्रित तेजस्विता को नियंत्रित कर दिया। और इसके साथ-साथ परशुराम जी को उत्तर भी मिल गया। परशुराम कह रहे थे कि तुम दूसरे पर नियंत्रण नहीं कर पा रहे हो। भगवान् राम ने कहा कि महाराज, यह लड़का तो आँखों के इशारे से मान जाता है, अगर आप हथियार से नहीं मनवा पा रहे थे, तो आपके मनवाने की पद्धति में ही कोई दोष होगा। इसका अभिप्राय यह कि जब हमारा क्रोध असीम और अपरिमार्जित हो जाता है तब वह व्यक्ति और समाज के लिए घातक होता है पर जब सीमा में मर्यादित करके उसका प्रयोग होता है तब वह समाज को स्वस्थता प्रदान करता है।

□□

प्रवचन-४

मनुष्य के शरीर में कफ, वात और पित्त, ये त्रिधातु विद्यमान हैं। इनमें से जब एक, दो या तीनों असंतुलित हो जाते हैं, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। और अस्वस्थ व्यक्ति की अस्वस्थता केवल उसके लिए ही नहीं वरन् उसके परिवार के लिए तथा निकटस्थ व्यक्तियों के लिए भी समस्या बन जाती है। ठीक इसी प्रकार से जब हमारे मन में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है तो वह असन्तुलन चाहे काम के कारण उत्पन्न हुआ हो या क्रोध के कारण अथवा लोभ के कारण, व्यक्ति रुग्ण हो जाता है। गोस्वामी जी अलग-अलग रोगों का विश्लेषण करते हुए उसका बड़ा सूक्ष्म चित्र मानस में प्रस्तुत करते हैं पर उसके साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका जीवन किसी एक दिशा में असन्तुलित दिखायी देता है। पर बहुधा दूसरी दिशा में वे असन्तुलित प्रतीत नहीं होते। देखा यह जाता है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति में तीव्र काम की वृत्ति होती है पर वह उतना लोभी अथवा क्रोधी नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी दिखायी देता है कि एक व्यक्ति बड़ा लोभी है पर उसके स्वभाव में क्रोध और काम की उग्रता नहीं दीख पड़ती। इसी तरह कोई व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी हो सकता है पर उसमें काम या लोभ की वृत्ति उतनी प्रबल नहीं होती। तो समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो इनमें से केवल एक असन्तुलन से ही पीड़ित होते हैं। काकभुशुण्डि जी कहते हैं कि यदि इन तीनों में से किसी एक का असन्तुलन हो तो उसकी चिकित्सा करना सरल है। ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ बनाना आसान है लेकिन यदि किसी व्यक्ति के जीवन में तीनों प्रकार के असन्तुलन आ जायँ, काम, क्रोध, लोभ तीनों प्रबल हो जायँ तो ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करना बहुत कठिन है। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि कफ, वात, पित्त इनमें से किसी एक के कुपित होने पर शरीर में ज्वर हो जाता है, पर तीनों के एक साथ कुपित हो जाने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे सन्निपात कहा जाता है। सन्निपात की चिकित्सा अत्यन्त कठिन मानी जाती है। जहाँ वातज्वर, पित्तज्वर और कफज्वर सरलता से उतर जाते हैं, वहाँ जब सन्निपात का ज्वर शरीर में आता है, तब उसे उतारना बड़ा कठिन हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी के जीवन में काम, क्रोध और लोभ तीनों का असन्तुलन उत्पन्न हो जाय तो उसे पुनः सन्तुलित करना बड़ा कठिन हो जाता है। श्रीरामचरितमानस में इसे बड़ी संवेदनशील तथा

मानवीय दृष्टि से देखा गया है। एक प्रसंग में जहाँ गुरु वशिष्ठ के आदेश से श्री भरत ननिहाल से आते हैं, तो कैकेयी बड़े उत्साह से उनका स्वागत करती है। लेकिन श्री भरत दुःख और पीड़ा से परिपूर्ण अयोध्या के सारे वातावरण को देखकर अत्यन्त व्यथित हैं इसलिए उनको इस स्वागत में सुखानुभूति नहीं होती। और वे माँ से अयोध्या में व्याप्त म्लानता का कारण पूछते हैं। कैकेयी बड़े आनन्द से अपनी सारी करतूतों का वर्णन करने लगती है। उसी समय वहाँ मन्थरा आ जाती है जो इस सारी घटनाओं का सूत्रधार है। कैकेयी यही समझ रही थी कि भरत को सिंहासन पर बिठाने के लिए मैंने इतना प्रयास किया है तो भरत के मन में मेरे प्रति बड़ी कृतज्ञता होगी कि मैंने कितना कष्ट सहकर उसे अयोध्या के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाया है। और मन्थरा के हृदय में तो और भी गहरा विश्वास था कि यह सारा कार्य तो मेरे द्वारा ही सम्पन्न हुआ है, इसलिए उस अवसर पर, जब श्री भरत और कैकेयी एकान्त में मिल रहे हैं, अपनी उपस्थिति के द्वारा इस महान् कार्य में जो मैंने भूमिका निभाई है, उसे प्रदर्शित कर दूँ। इस समय सामने जाने से हो सकता है कि श्री भरत सिंहासन पर बैठने से पहले ही मुझे पुरस्कार दे दें। नहीं तो कौन जाने सिंहासन पर बैठने के बाद कहीं वे मुझे भूल न जायँ। पर यहाँ तो श्री भरत अत्यन्त दुखित हो मूर्छा की स्थिति से उठ रहे हैं। उस समय मन्थरा का वहाँ पहुँचना और उसका आचरण परिवेश के सर्वथा प्रतिकूल है। उस समय सम्पूर्ण अयोध्या में शोक छाया हुआ है। महाराज श्री दशरथ की मृत्यु हो चुकी है। सभी रानियाँ विधवा वेश में हैं, प्रजा शोक वेश में है, लेकिन मन्थरा उस समय भी अपने आपको सुन्दर वेश-भूषा से सजा लेती है तथा आभूषण धारण कर लेती है। और इसी वेष में वह वहाँ पर पहुँचती है। उस समय श्री भरत तो इतने व्याकुल हैं कि कुछ कहने और सुनने की मनःस्थिति में ही नहीं हैं। लेकिन शत्रुघ्न जी की दृष्टि मन्थरा पर पड़ जाती है।

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ २/१६२/२

—"उसी समय विविध प्रकार के वस्त्र-आभूषणों में सजकर कुबड़ी (मन्थरा) वहाँ आ गयी।" शत्रुघ्न जी सब सुन चुके हैं। उनको ऐसा लगता है कि वह जो कुछ अनर्थ हुआ है, उसके मूल में मन्थरा है। अगर मन्थरा न होती तो सम्भवतः ये घटनाएँ भी न होतीं। इसलिए इस घटना की सबसे बड़ी अपराधिनी यही है। और शत्रुघ्न जी का दर्शन यह है कि अपराधी को कठोर-से-कठोर दण्ड देना चाहिए। इसलिए उन्होंने आगे बढ़कर उसके कूबड़ पर प्रहार किया।

वह मुँह के बल गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। लेकिन इस पर भी मन्थरा सहसा कह उठी—

आह दई मैं काह नसावा।
करत नीक फलु अनइस पावा ।। २/१६२/६

—"हाय दैव ! मैंने क्या बिगाड़ा, जो भला करने का बुरा फल मिला ?" यह सुनकर शत्रुघ्न जी का क्रोध और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी जी शत्रुघ्न जी के लिए बड़े साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे शत्रुघ्न जी का परिचय दो रूपों में देते हैं। एक तो यह कि वे भरत के छोटे भाई हैं। और अन्यत्र कहते हैं कि ये लक्ष्मण के छोटे भाई हैं। भगवान् श्री राम लंका-विजय के पश्चात् जब अयोध्या लौटते हैं और सभी भाइयों का परस्पर मिलन होता है, तो वहाँ पर शत्रुघ्न जी और लक्ष्मण जी के मिलन को देखकर गोस्वामी जी यह लिख सकते थे कि लक्ष्मण जी ने अपने छोटे भाई को हृदय से लगा लिया। पर उन्होंने ऐसा नहीं लिखा। क्या लिखते हैं वे ?

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे।
दुसह बिरह संभव दुःख मेटे ।। ७/५/१

—"श्री लक्ष्मण जी श्री भरत के छोटे भाई से गले लगकर मिले और इस प्रकार विरह से उत्पन्न दुःसह दुःख का नाश किया।"

यही गोस्वामी जी की सजगता है। वे मानो साधारण पढ़नेवालों को सावधान कर देते हैं कि यह न समझ लेना कि लक्ष्मण जी में अपने भाई के प्रति बड़ी ममता है, इसलिए वे शत्रुघ्न जी को हृदय से लगा रहे हैं। नहीं। लक्ष्मण जी क्या देखते हैं ? अभी कुछ देर पहले ही उन्होंने श्री राम के मुख से श्री भरत के गुण सुने हैं और उनके चरित्र से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसलिए जब उन्होंने शत्रुघ्न को देखा तो उनके अन्तर्मन में यह सोचकर प्रेम उमड़ पड़ा कि शत्रुघ्न श्री भरत जैसे महान् सन्त और सत्पुरुष की सेवा में रहते हैं, इसलिए ये मेरे लिए अभिनन्दनीय हैं। और ऐसा मानकर लक्ष्मण जी शत्रुघ्न को हृदय से लगाते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि लक्ष्मण जी ने अपने छोटे भाई को नहीं, श्री भरत के छोटे भाई को हृदय से लगाया। पर जब मन्थरा के प्रसंग में शत्रुघ्न जी मन्थरा पर प्रहार करते हैं तो वे लिख सकते थे कि भरत के छोटे भाई ने प्रहार किया। पर वे लिखते हैं—

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई ।। २/१६२/३

—"उसे (सजी) देखकर लक्ष्मण जी के छोटे भाई (शत्रुघ्न जी) क्रोध में भर गये। मानो जलती हुई आग को घी की आहुति मिल गई हो।"

लक्ष्मण जी के भाई को क्रोध आ गया, इसका अभिप्राय क्या है ? यह कि इस समय शत्रुघ्न जी की भूमिका श्री भरत के चरित्र के अनुकूल नहीं है। वह श्री लक्ष्मण के चरित्र के अनुकूल है। अब दोनों की मान्यता दो प्रकार की है। और समाज में ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। लक्ष्मण जी की मान्यता है कि अपराधी को तुरन्त कठोर दण्ड मिलना चाहिए। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि लक्ष्मण के छोटे भाई ने क्रोध में भरकर कुबड़ी के कूबड़ पर प्रहार किया। उन्हें लगा कि मन्थरा में दोष है कूबड़ अर्थात् कुटिलता और टेढ़ापन ही उसका दोष है। इसलिए उन्होंने पहले उसके कूबड़ पर ही प्रहार किया। पर उन्होंने देखा कि—

सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी।

—"अरे, यह तो सिर से पैर तक बुरी है।" पैर के नख से चोटी तक इसमें कहीं कोई अच्छाई का लेशमात्र नहीं है। और तब—

लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ।। २/१६२/७

—"उसकी चोटी पकड़कर उसे घसीटने लगे।"

अब श्री भरत और श्री लक्ष्मण की भूमिका यहाँ पर स्पष्ट हो जाती है।

यद्यपि श्री भरत जो यहाँ पर बड़े दुखी हैं और बड़े कठोर शब्दों में कैकेयी की भर्त्सना करते हैं, पर इतना होते हुए भी जब शत्रुघ्न ने मन्थरा को कठोर दण्ड दिया तो भरत जी ने शत्रुघ्न को शाबाशी नहीं दी; यह नहीं कहा कि तुमने बहुत अच्छा किया, यह दण्ड देने योग्य ही है। यदि वे ऐसा कहते तो कोई अस्वाभाविक बात न होती, बल्कि यह प्रसंग के अनुकूल ही प्रतीत होता। लेकिन गोस्वामी जी कहते हैं कि श्री भरत ने तुरन्त शत्रुघ्न जी का हाथ पकड़ लिया और कहा—नहीं नहीं, मन्थरा को दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है।

भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई । २/१६२/८

—"तब दयानिधि श्री भरत ने उनको छुड़ा दिया।'

इस सन्दर्भ में यह जो एक दृष्टिकोण श्री भरत का है और एक श्री शत्रुघ्न का, अगर इन दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करें तो उसका तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों के द्वारा समाज में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसका समाधान करने के लिए बहुधा दो प्रकार के विचार सामने आते हैं। इसमें से एक मान्यता जो समाज में बहुत प्रचलित है वह यह है कि अगर समाज में अपराध को रोकना है तो अपराधी को इतना कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए कि व्यक्ति अपराध करने का साहस ही न करे। इससे अपराध रुकता है। पर कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है और प्रत्यक्ष भी दिखाई देता है कि कठोर

दण्ड व्यवस्था के द्वारा बुराइयाँ तात्कालिक रूप से दूर होती हुई तो प्रतीत होती हैं पर वह समाधान टिकाऊ नहीं रहता। और यह दूसरी मान्यता है। अब टिकाऊ न रहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में तो दण्ड का भय मनुष्य को अपराध करने से रोकता है पर बाद में व्यक्ति धीरे-धीरे उस भय का भी अभ्यस्त बन जाता है। जैसे इसे यों कहें कि व्यक्ति प्रारम्भ में जेल जाने से डरता है, लेकिन अगर दो-चार बार जेल हो आता है तो फिर वह उसका अभ्यस्त हो जाता है। आपको ऐसे हजारों अपराधी मिलेंगे, जो जेल से भयभीत नहीं होते। जेल जाना भी उन्हें स्वाभाविक लगता है। और दूसरी ओर यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि व्यक्ति भले ही प्रारम्भ में भय के कारण बुराइयों से बचने की चेष्टा करता हो लेकिन स्वेच्छया वह बुराई से दूर रहना नहीं चाहता। तो दण्ड की व्यवस्था को लक्षणों की चिकित्सा कहा गया है। लक्षणों की चिकित्सा का अभिप्राय यह है कि जैसे अगर सिर में तीव्र पीड़ा हो रही हो और हम सिर पर कोई दवा लगा लें, तो थोड़ी देर के लिए तो सिर में ठण्डक आ जाती है या ऐसी कोई दवा खा लेते हैं, जिसके द्वारा कुछ समय के लिए हमें दर्द से छुटकारा मिल जाता है। तो यह भी एक उपाय है और इसकी भी आवश्यकता है। पर कभी-कभी ऐसी भी एक स्थिति आती है कि लोग गोली खाने के अभ्यस्य हो जाते हैं। और आजकल के चिकित्सक भी यह बताते हैं कि कुछ गोलियों की प्रतिक्रिया बड़ी बुरी होती है। तो जो शरीर के सन्दर्भ में सत्य है वही मन के सन्दर्भ में भी सत्य है। जब हम कोई तात्कालिक सरल उपाय सोचते हैं तो उससे हमें तत्काल तो बड़ा सन्तोष मिलता है पर वह दीर्घकालिक दृष्टि से कल्याणकारी सिद्ध नहीं होता। इसी तरह समाज में अपराध को रोकने के लिए दण्ड की व्यवस्था तो रहेगी पर इस तात्कालिक समाधान के बाद उस समस्या की गहराई में पैठकर उसका मूल समाधान ढूँढ़ना पड़ेगा। उसके कारण को मिटाना होगा। तब कहीं जाकर सच्चे अर्थों में रोग या बुराइयों से छुटकारा मिलेगा।

लक्ष्मण जी अपराध को अपराध मानकर कठोर दण्ड के पक्षधर हैं। और उनके चरित्र में ऐसा दिखायी भी देता है। वे बड़े तेजस्वी हैं, और जहाँ कहीं अन्याय और भूल होती है वहाँ सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या, बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी वे क्षमा नहीं करते। वे उसकी भर्त्सना और किसी-न-किसी प्रकार उसे दण्डित करते हैं। लक्ष्मण जी का यह दण्ड-विधान एक तात्कालिक उपाय है और भरत जी का उपाय सार्वकालिक है। वे क्या उपाय करते हैं ? मन्थरा को छुड़ा देते हैं। क्यों ? श्री भरत अपराध को अपराध की दृष्टि से नहीं रोग की दृष्टि से देख रहे हैं। रोगी के प्रति एक वैद्य की जो दृष्टि होती है वही दृष्टि श्री भरत की मन्थरा के प्रति है। वैद्य जब किसी रुग्ण व्यक्ति को देखता है, तब वह उसे औषधि और उपचार के द्वारा स्वस्थ बनाने का ही विचार करता है, उसे दण्ड देने की बात उसके मन में नहीं आती। किसी ने गोस्वामी जी से पूछ लिया—श्री राम को पा लेने के बाद श्री भरत का क्या अवदान हो सकता है ? श्री राम साक्षात् ईश्वर हैं और ईश्वर-प्राप्ति सबसे महान् उपलब्धि है। भगवान् श्री राम की अयोध्या से लंका तक की उस लम्बी यात्रा में जिन लोगों ने श्री राम का दर्शन किया उन्हें और क्या पाना शेष रह गया था जिसकी पूर्ति श्री भरत करते हैं ? तो गोस्वामी जी कहते हैं—श्री राम के दर्शन से चाहे जो भी मिला हो लेकिन एक वस्तु ऐसी थी जो श्री भरत के दर्शन से प्राप्त हुई। ओर वह क्या थी ? गोस्वामी जी कहते हैं—श्री राम के दर्शन से तो मुक्ति मिल गयी। अयोध्याकाण्ड में यही कहा है—

जो चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेर ॥ २/२१६/१
ते सब भए परम पद जोगू। २/२१६/२

—रास्ते में जो असंख्य जड़-चेतन जीव थे उनमें से जिनको भगवान् श्री राम ने देखा अथवा जिन्होंने श्री राम को देखा, वे सब परम पद के अधिकारी हो गये। ईश्वर का दर्शन मुक्ति प्रदान करता है लेकिन गोस्वामी जी यहाँ पर एक सूक्ष्म संकेत सूत्र देते हैं। वे कहते हैं कि 'मुक्ति' और 'मुक्ति का सुख' इसमें एक सूक्ष्म अन्तर है। क्या ? मुक्ति तो एक बार पा लेना सरल है पर मुक्ति के सुख की जो अनुभूति है, उसे पाना सरल नहीं है। दृष्टान्त के रूप में इसे यों कहें कि मार्ग में चलते हुए आपको संयोग से कहीं हीरा पड़ा मिल जाय तो आपको हीरा मिलने का सुख तब तक नहीं होगा, जब तक आप यह न जान लें कि यह हीरा है। जब तक यह वृत्ति बनी हुई है कि यह तो एक काँच का टुकड़ा है, तब तक वह हीरा चाहे जितना भी मूल्यवान क्यों न हो, दारिद्रय का भाव दूर नहीं करेगा और आपको धनवान होने की सुखानुभूति नहीं होगी। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इसकी व्याख्या की गई है, ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया गया कि ज्ञानी को भक्ति की आवश्यकता है या नहीं ? गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्ञानी को भी भक्ति की आवश्यकता है। क्यों ? ज्ञानी तो मुक्त हो गया, अब उसे भक्ति की क्या आवश्यकता है ? तो इसके उत्तर में एक दृष्टान्त देते हुए वे कहते हैं —

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥ ७/११८/५-६

—"जैसे स्थल के बिना जल नहीं रह सकता, चाहे कोई करोड़ों प्रकार से उपाय क्यों न करें, वैसे ही हे गरुड़ जी मोक्षसुख भी भक्ति को छोड़कर नहीं रह सकता।" गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष तो मिलेगा पर मोक्ष-सुख की अनुभूति का आनन्द तो भक्ति से ही प्राप्त होगा। यह जो एक बात वे जोड़ देते हैं, इसका अभिप्राय क्या है? वे कहते हैं कि भइ, जब तक अखण्ड वृत्ति का बोध बना रहेगा, ब्रह्म से एकता का बोध बना रहेगा, तभी तक तो व्यक्ति को अपनी पूर्णता का बोध बना रहेगा। पर अगर यह वृत्ति खण्डित हो जाय और व्यक्ति अपने को ससीम मान ले, तब क्या परिणाम होगा? भले ही वह तत्वतः ब्रह्म से अभिन्न है; लेकिन तात्कालिक रूप में उसकी वृत्ति खण्डित हो जाने पर उसे उस सुख की अनुभूति नहीं होगी। तो किसी वस्तु को प्राप्ति और उसके प्राप्ति के सुख की अनुभूति दो अलग बातें हैं। गोस्वामी जी एक और दृष्टान्त देते हैं। और वह भी बड़ा सार्थक दृष्टान्त है। जैसे विविध प्रकार के व्यंजन लाकर कोई रख दे। तो व्यंजन तो मिल गया पर व्यंजन का सुख कब मिलेगा? व्यंजन का सुख तब मिलेगा जब भूख भी लगी हो। यदि भूख न हो और मन्दाग्नि की शिकायत हो तो व्यंजन में रस नहीं मिलेगा। इसलिए व्यंजन के स्वाद की सुखानुभूति के लिए केवल व्यंजन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं है। इसी तरह वे कहते हैं कि भगवान् तो मुक्ति देकर चले गये पर मुक्ति का सुख भरत जी के दर्शन के बिना नहीं मिलेगा। क्यों? श्री राम के दर्शन से सब परम पद के योग्य तो हो गए पर कमी और किस बात की रह गई? वही भूख की कमी और मन्दाग्नि के कारण यदि व्यंजन से अरुचि हो रही है तो व्यंजन परोसने के साथ-ही-साथ रोग भी दूर करना होगा। और तब श्री भरत ने यही किया—

जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू।
भरत दरस मेटा भव रोगू॥ २/२१६/१-२

भगवान् श्री राम के दर्शन से उन्हें मुक्ति का व्यंजन तो मिल गया, पर रोग दूर हुआ श्री भरत की कृपा से। भरत जैसे वैद्य के द्वारा जब लोगों के मन का रोग दूर हुआ, तब उन्हें मुक्ति सुख की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। यहाँ भगवान् श्री राम और श्री भरत के चरित्र में सामंजस्य है। तो श्री भरत की भूमिका है वैद्य की और उन्होंने समस्त घटनाओं को देखा रोग के रूप में।

काकभुशुण्डि जी के प्रसंग में जिस सन्निपात की चर्चा की गई, वह बड़ा

सांकेतिक है। यह सन्निपात लंका में तो है ही। वहाँ रावण के जीवन में काम, क्रोध, लोभ तीनों का अतिरेक है। परन्तु विडम्बना तो यह है कि यह अयोध्या में भी है। और इसी कारण राम राजा नहीं बन पाये। अभिप्राय यह है कि सन्निपात केवल बुरे व्यक्तियों को ही होता हो, ऐसी बात नहीं है, वह भले व्यक्तियों को भी हो जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं—अपराध के मूल में मोह है और चरक प्रज्ञापराध की बात कहते हैं। दोनों एक ही हैं। तो व्यक्ति जब मोहग्रस्त होता है या प्रज्ञापराध करता है, कुपथ्य करता है, तब वह रोगग्रस्त हो जाता है। पर क्या डॉक्टर या वैद्य रोगग्रस्त नहीं होते? कुपथ्य करने पर वैद्य भी रोगग्रस्त हो जाता है। तो चाहे मोहवश भूल हो, चाहे कुपथ्यवश रोग, दृष्टि यदि वैद्य की है तो वह दण्ड का पात्र नहीं, दया का पात्र दिखाई देगा।

श्री भरत की दृष्टि वैद्य की दृष्टि है और मन्थरा उनकी दृष्टि में एक रोगी की भाँति दया की पात्र है। इस पर विचार करके देखिए। मन्थरा को निमित्त बनाकर अयोध्या में सन्निपात हो गया। वहाँ का सम्पूर्ण समाज सन्निपात ग्रस्त हो गया। और उसकी चिकित्सा श्री भरत जैसे संत ने की। यद्यपि कौशल्या अम्बा को लगा कि सबसे योग्य चिकित्सक गुरु वशिष्ठ ही हैं। भई, अपने घर का बेटा अगर डॉक्टर या वैद्य हो जाय तो माता-पिता को उस पर विश्वास नहीं होता। रामायण में सबसे बड़े वैद्य तो श्री भरत ही हैं पर कौशल्या अम्बा तो उन्हें पुत्र की दृष्टि से देख रही थीं। उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि मेरा पुत्र इतना बड़ा वैद्य है। उन्होंने सोचा कि सारा समाज रोगी हो चुका है और इस रोग को दूर करने वाले वैद्य के रूप में हमारे कुल को गुरु वशिष्ठ जैसे सन्त और सद्गुरु मिले हैं, अतः समाज के रोग की चिकित्सा उनके द्वारा ही होनी चाहिए। तब गुरु वशिष्ठ ने वैद्य की भूमिका स्वीकार कर ली और उन्होंने श्री भरत से कहा कि तुम अयोध्या का राज्य स्वीकार कर लो और चौदह वर्ष तक राज्य चलाओ। राम के लौटने के पश्चात् तुम उन्हें राज्य सौंप देना। पर श्री भरत उनकी इस चिकित्सा पद्धति से सहमत नहीं होते। जब श्री कौशल्या अम्बा ने देखा कि श्री भरत इस प्रस्ताव से रंचमात्र भी उत्साहित नहीं हो रहे हैं, अपितु गुरु जी का प्रस्ताव सुनकर उन्हें दुःख हो रहा है तब उन्होंने तुरन्त कहा—

पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु काल गति जानी॥ २/१७५/१-२

—भरत, जब वैद्य कोई पथ्य बतावे, कोई दवा बतावे तो यह आवश्यक नहीं है कि वह हमारे मन के अनुकूल ही हो। पथ्य तो बहुधा मन के अनुकूल

नहीं हुआ करता। इस समय सारा समाज रोगी है और स्वस्थ होने के लिए गुरु के द्वारा दिया गया पथ्य तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी से समाज की समस्या का समाधान होगा।

श्री भरत बड़े मृदुभाषी हैं पर गोस्वामी जी उनकी वाणी की विचित्रता भी बताते हैं। वे कहते हैं—

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित अति आखर थोरे ॥ २/२६३/२

—श्री भरत के बोलने में शब्द तो बहुत थोड़े होते हैं पर अर्थ बड़ा विस्तृत होता है, समझने में सुगम पर साथ ही अगम भी होता है और उससे भी आगे बढ़कर कह दिया कि सुनने में जितना कोमल उतना ही कठोर भी होता है। मृदु तो इतने हैं कि कह दिया—

गुर बिबेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिश्व कर बदर समाना ॥ २/१८१/१

—'हमारे गुरुदेव तो विवेक के सागर हैं और सारे विश्व का ज्ञान उनकी मुट्ठी में बेर के फल के समान है। सुनकर लगता है कि स्तुति कर रहे हैं। पर शब्द क्या है? स्तुति में भी व्यंग्य छिपा हुआ है। रामायण में भारद्वाज-प्रसंग में भी ऋषियों की प्रशंसा इसी शैली में की गई है। पर यहाँ पर एक शब्द बदला हुआ है। कौन-सा?

जानहिं तीनि काल निज ग्याना।
करतल गत आमलक समाना ॥ १/२८/७

—महर्षि याज्ञवल्क्य और भारद्वाज अपने ज्ञान से तीनों काल की बातों को हथेली पर रखे हुए आँवले के समान (प्रत्यक्ष) जानते हैं। जैसे आँवले का फल मुट्ठी में बन्द कर लेते हैं, इसी प्रकार से सारा ज्ञान इन महापुरुषों की मुट्ठी में है। अब श्री भरत की वाणी की कोमलता के साथ कठोरता क्या है? उन्होंने गुरु वशिष्ठ की प्रशंसा तो की पर उसमें कठोरता छिपी हुई है। कैसे? कह सकते थे कि गुरु जी की मुट्ठी में सारा ज्ञान आँवले के फल जैसा है। पर उन्होंने आँवला नहीं कहा। उन्होंने कहा—हमारे गुरु के हाथ में सारा ज्ञान बेर के समान है। अब इसमें व्यंग्य क्या है? यह कि आँवला तो सदा पथ्य है और बेर से बढ़कर कोई कुपथ्य नहीं है।

धात्रिफल सदापथ्यमपथ्यं बदरीफलम्।

तो श्री भरत का व्यंग्य यह था कि वस्तुतः ऐसा लगता है कि आज गुरु जी आँवले के स्थान पर बेर का प्रयोग करने जा रहे हैं। और सचमुच क्या वह निदान सही था? क्या औषधि और पथ्य सही था? तब श्री भरत ने उसका

विश्लेषण किया। समाज की समस्या क्या है और उसका सही निदान क्या है? समाज को इस बुराई से कैसे उबारा जाए? गुरु वशिष्ठ की व्यवस्था को वे कुपथ्य मानते हैं। श्री भरत के कहने का तात्पर्य यह है कि अगर मैं सिंहासन पर बैठ गया, तब तो लोगों को षड्यन्त्र और धूर्तता की ही प्रेरणा मिलेगी। असत्य और कठोरता की ही प्रेरणा मिलेगी। लोग यही सोचेंगे कि मन्थरा और कैकेयी ने मिलकर ऐसी योजना बनाई और षड्यन्त्र रचा कि भरत सिंहासन पर बैठ गए। अगर मेरे द्वारा समाज में मन्थरा और कैकेयी के उद्देश्य की पूर्ति हो जाय तो समाज स्वस्थ होगा या अस्वस्थ? आज भी यही दिखाई देता है कि कोई बुरा व्यक्ति सफलता प्राप्त कर लेता है और अच्छे व्यक्ति को लोग असफल होते देखते हैं तो बहुतों के मन में यह बात आती है कि शायद अच्छा होने पर बुरा फल भोगना पड़ता है। तो बुरे व्यक्ति की सफलता तो दूसरे व्यक्ति को भी बुराई की ही प्रेरणा देगी। श्री भरत ने कहा कि इसका समाधान क्या है? इसका समाधान तो यह होना चाहिए कि हमारे जिस कार्य के द्वारा समाज स्वस्थ हो वह करने की आज्ञा गुरु वशिष्ठ हमें दें। कह तो दिया कि आपका निदान, औषधि और पथ्य ठीक नहीं है, पर कहते हैं बड़ी विनम्रतापूर्वक। इसीलिए गोस्वामी जी श्री भरत के लिए कहते हैं कि जैसे चतुर वैद्य कड़वी गोली को मिठास में डुबाकर देते हैं और उसे छोटा बालक भी बड़ी सरलता से निगल लेता है। इसी प्रकार जब श्री भरत बोलने लगे, तो गोस्वामी जी लिखते हैं—

भरतु कमल कर जोरि धरम धुरन्धर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि ॥ २/१७६

—अपने शब्दों को मधुरता के अमृत में डुबोकर सबको उचित उत्तर देते हैं।

दूसरी तरफ गुरु वशिष्ठ समाज की समस्या को आपात दृष्टि से देखते हैं और उसका तात्कालिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे मानो लक्षणों की चिकित्सा कर रहे हैं। महाराज दशरथ की मृत्यु हो चुकी है, श्रीराम वन को चले गये हैं। ऐसी स्थिति में शासकविहीन समाज में शासनतंत्र सुव्यवस्थित नहीं रह पाएगा। गुरु वशिष्ठ की दृष्टि में इसका समाधान यही है कि भरत सिंहासन पर बैठकर समाज को सुव्यवस्थित रूप से चलावें। तो देखने में तो यह समाधान गलत नहीं लगता, लेकिन श्री भरत कहते हैं कि यह जो जल्दी में लिया गया निर्णय है, क्या सचमुच इसके द्वारा समाज की समस्या का समाधान होगा? आप लोगों ने तो देख ही लिया है कि—

पितु सुरपुर सिय रामु बन, करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजु ॥ २/१७७

—'पिता जो स्वर्ग में हैं, श्री सीता जी और श्री राम वन में हैं और मुझे आप राज्य करने के लिए कह रहे हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना कोई बड़ा काम होने की आशा रखते हैं। अब आप ही बताइए कि जिसके सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही इतनी अशुभ घटनाएँ घट गई हों, तो आगे क्या होगा? जैसे नववधू के घर में पैर रखते ही घटने वाली घटनाओं के आधार पर उसके शुभ-अशुभ लक्षणों को देखने की परम्परा है, उसी तरह यह भी देखते हैं कि इस शासक का लक्षण शुभ है या अशुभ? तो श्री भरत जी ने कहा कि मेरे चरण कैसे हैं, यह तो अभी से दिखाई देने लगे। जिसके सिंहासन में बैठने के पूर्व ही पिता और लोकशासक को प्राण त्यागने के लिए बाध्य होना पड़ा हो, जिसे सिंहासन षड्यन्त्र से मिला हो और जिसके कारण श्री राम को वन जाना पड़ा हो, जिस सिंहासन से ईश्वर दूर चला गया हो, उस सिंहासन पर बैठने वाला शासक क्या समस्याओं का समाधान दे सकता है? आप लोग इस पर गम्भीरता से विचार करें—

कहहुँ साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू॥ २/१७८/१

—'मैं सत्य कहता हूँ, आप लोग विश्वास करें, धर्मशील को ही राजा होना चाहिए।'

वशिष्ठ जी के भाषण और कौशल्या जी के समर्थन के बाद जब श्री भरत बोलने को खड़े हुए तो उनका प्रारम्भिक भाषण ऐसा था कि जिससे लोगों को पूरा भ्रम हो गया। श्री भरत ने यहीं से प्रारम्भ किया—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका।
प्रजा सचिव सम्मत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा।
अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू।
धरमु जाइ सिर पातक भारू॥ २/१७६/१-४

—'गुरु जी ने मुझे सुन्दर उपदेश दिया, प्रजा, मन्त्री आदि सबका यही मत है। माता ने भी उचित समझकर ही आज्ञा दी है और मैं भी उसे शिरोधार्य कर वैसा ही करना चाहता हूँ। क्योंकि गुरु, पिता, माता, स्वामी और मित्र की वाणी प्रसन्न मन से सुनकर उसे लाभकारी समझकर मान लेना चाहिए। उचित-अनुचित का विचार करने से धर्म नष्ट होता है और सिर पर पाप का भार बढ़ता है।'

भरत जी का यह भाषण जब प्रारम्भ हुआ तो सुनने वालों को लगा कि सिंहासन पर बैठने की भूमिका बन रही है। कई लोग जब पद स्वीकार करते हैं तब कहते हैं कि मैं तो अपने को इस योग्य नहीं मानता और ग्रहण करना चाहता भी नहीं पर आप लोग जब इतना आग्रह कर रहे हैं तो चलिए आप लोगों का आदेश पालन करने के लिए स्वीकार कर रहा हूँ। यहाँ श्री भरत जी भी तो यही कह रहे हैं कि गुरु, पिता, माता की बात को बिना विचार किए मान लेना चाहिए। लेकिन इसके बाद ही श्री भरत ने बहुत बढ़िया बात कही। यहीं से उन्होंने अपने भाषण को मोड़ दिया। श्री कौशल्या जी ने कहा कि जब तुम स्वयं मानते हो कि गुरु वशिष्ठ ने बहुत बढ़िया बात कही है, तो उसे स्वीकार करो। श्री भरत जी ने कहा—माँ केवल दवा का श्रेष्ठ होना ही यथेष्ट नहीं है। पहले इस बात का तो निर्णय हो जाय कि रोग हुआ कौन-सा है? रोग का यदि सही निदान न हुआ और औषधालय की सर्वश्रेष्ठ दवा उठाकर रोगी को दे दी जाय, तो क्या इससे रोगी स्वस्थ होगा? अतः तुरन्त उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा कि लगता है कि गुरु जी ने सही निदान किए बिना ही दवा और पथ्य का विधान दे दिया है। और रोग का स्पष्ट निदान करते हुए उन्होंने कहा कि यहाँ पर तो यद्यपि केन्द्र में कामवात है पर उसके साथ मिलकर कफ और पित्त भी कुपित हो गये हैं। यह तो सन्निपात का लक्षण है। और इसकी पूरी दवा तो तब होगी जब समाज की समस्या को पूरी तरह से समझा जाएगा। जो वैद्य रोगी के रोग को ठीक से समझेगा, वही उसे ठीक दवा दे सकेगा। और तब श्री भरत कौशल्या अम्बा से कहते हैं कि यह जो संकट आया है, उसके निवारण के लिए अब केवल वैद्य ही पर्याप्त नहीं है। मुझे तो लगता है कि अब तीनों की आवश्यकता है। तीनों कौन?—ज्योतिषी, वैद्य और मंत्रशास्त्रवेत्ता। पर अयोध्या में न तो वैसा कोई ज्योतिषी दिखाई दे रहा है, न वैद्य और न मंत्रशास्त्रवेत्ता ही। और तब उन्होंने संकेत करते हुए कहा कि अयोध्या की तीन समस्याएँ हैं। कौन-कौन सी? कहते हैं—'अयोध्या में ग्रहदशा आ गई है, वात रोग भी हो गया है और इतना ही नहीं, एक तीसरी समस्या भी है—

"ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।"

—ग्रहदशा है, वात रोग हुआ है और ऊपर से बिच्छू ने डंक मार दिया है। और तब श्री भरत ने व्यंगात्मक भाषा में माँ से कहा कि वैद्य आपने बहुत बढ़िया चुना है। जब किसी के ऊपर शनि की दशा आ गई हो, वात रोग हो

गया हो और उस पर बिच्छू डंक मार दे, ऐसे व्यक्ति से वैद्य जी यह कह दें कि शराब पीकर सो जाओ। तो यह कोई दवा हुई क्या? शराब के नशे में एक क्षण के लिए रोगी दर्द को अनुभव नहीं करेगा, पर इससे क्या रोग दूर हो जाएगा? श्री भरत यही कहते हैं—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइय बारुनी, कहहु काह उपचार ॥ २/१८०

—माँ, यह तो उपचार नहीं लगता। इसलिए वे गुरुजी से अनुरोध करते हैं कि आप वैद्य रहें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन कुण्डली का विचार भी तो ठीक से कर लीजिए। यह तो देख लीजिए कि कौन-सी दशा आयी हुई है। और अगर आप चाहते हैं कि विष उतर जाय तो कम-से-कम यह तो पता लगावें कि किस जन्तु ने काटा है। क्योंकि अलग-अलग जन्तु के विष उतारने के लिए अलग-अलग मन्त्र हैं। बिना जाने यदि आप मन्त्र का प्रयोग करेंगे तो विष कैसे उतरेगा।

सारी अयोध्या की समस्या पर विचार करें, तो देखेंगे कि अयोध्या का सारा समाज काम, क्रोध, लोभ—तीनों से ग्रस्त हो गया है, सन्निपातग्रस्त हो गया है। पर श्री भरत ने केवल काम की चर्चा की। उन्होंने कहा कि इस समय अयोध्या में वात रोग हुआ है। और रामचरितमानस की भाषा में काम ही वात रोग है—

काम बात कफ लोभ अपारा।

—तो श्री भरत जी ने यहाँ पर जो केवल काम को महत्त्व दिया, इसका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध और लोभ इन तीनों पर अगर विचार करके देखें तो सबके मूल में काम है। अगर पूरे घटनाक्रम पर विचार करें तो आपको लगेगा कि पहले काम वात आया, उसके बाद लोभ कफ, और अन्त में क्रोध रूपी पित्त भी आया। इस प्रकार सारा समाज सन्निपातग्रस्त हो गया।

यही सारी समस्या कैसे उत्पन्न हुई। महाराज दशरथ के चरित्र में कमी के कारण। और वह कमी थी असन्तुलित काम की। सौन्दर्य के प्रति आसक्ति तथा राग उनके जीवन में बहुत तीव्र था और उस राग का परित्याग वे अपने जीवन में नहीं कर पाये। इसी कारण उन्होंने दो और विवाह किए। उन विवाहों के पीछे उनके मन में यह तर्क था कि वे उत्तराधिकारी के लिए ही विवाह कर रहे हैं। पर उनके पूरे चरित्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कैकेयी के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर ही विवाह की इच्छा की थी। उन्होंने सुन लिया था कि कैकेयी अत्यन्त रूपवती है। और जब उन्होंने कैकय नरेश के सामने कैकेयी से विवाह करने की अपनी इच्छा व्यक्त की तो कैकय नरेश ने

उनके सामने एक शर्त रखी। उस शर्त को महाराज दशरथ ने बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया। यदि दशरथ जी यहीं पर सावधान रहते तो आगे जो प्रतिकूल घटनाएँ हुईं, वे न हुई होतीं। महाराज दशरथ और कैकेयी की आयु में बड़ा अन्तर था। ऐसी स्थिति में जब दशरथ जी ने महाराज कैकय से कैकेयी के लिए याचना की तो इस विवाह के लिए वे बिना प्रलोभन प्रस्तुत नहीं थे। और इसीलिए उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि मैं अपनी कन्या का विवाह आपसे तभी करूँगा, जब आप यह वचन दे देंगे कि मेरी कन्या के गर्भ से जन्म लेने वाला पुत्र ही अयोध्या के राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकारी होगा। तो इसका अभिप्राय क्या हुआ? यह कि महाराज दशरथ के काम एवं महाराज कैकय के लोभ में समझौता हो गया और इसके बाद महाराज दशरथ का कैकेयी से विवाह हुआ। फिर यह भी बहुत स्पष्ट था कि महाराज दशरथ भले ही अन्य रानियों से अच्छा व्यवहार करने की चेष्टा करते हों, पर कैकेयी के प्रति वे पक्षपात करते थे। इस बात से सभी अवगत थे। तो महाराज दशरथ और कैकेयी के विवाह में काम और लोभ के समझौते के बाद क्रोध की क्या स्थिति है? मन्थरा कैकेयी की दासी है। वह कुरूप है, उपेक्षा की पात्र है और हीन-वृत्ति से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में मन्थरा कैकेयी के साथ अयोध्या में आती है। अयोध्या के लोग उसकी कुरूपता पर हँसते हैं। और उसका परिणाम क्या हुआ? उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वह चिड़चिड़ी हो गई। यह एक स्वाभाविक परिणाम है। इस चिड़चिड़ेपन के कारण लोग उसकी निंदा करते हैं। लेकिन अगर विचार करके देखें कि कुरूप व्यक्ति को चिड़चिड़ा बनाता कौन है? तो उसे चिड़चिड़ा बनाने का दोष तो दूसरे व्यक्तियों का ही है। जब हम किसी की कुरूपता पर हँसेंगे या व्यंग्य करेंगे, उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे, हँसी का पात्र समझेंगे, तो क्या उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होगी? वह तो कोई बिरला व्यक्ति ही होगा, जो इस घृणा की वृत्ति में भी आनन्द ले। यह सन्त वृत्ति है। मालिक मोहम्मद जायसी के बारे में एक बात बड़ी प्रसिद्ध है। वे एक बड़े प्रसिद्ध सूफी सन्त थे। उन्होंने पद्मावत नाम का बड़ा सुन्दर काव्य लिखा है। वे बड़े ही कुरूप थे। एक बार वे राजा की सभा में गए, तो उन्हें देखकर सभा के लोगों के होठों पर हँसी खेल गयी। प्रत्यक्ष रूप से तो वे लोग नहीं हँसे, पर मुँह दबाकर हँसने लगे। जायसी ने देख लिया और वे स्वयं भी हँसने लगे। वे तो विष पचाना जानते थे। जो लोग उनकी कुरूपता पर हँस रहे थे, उनसे उन्होंने तुरन्त पूछा—"आप लोग मुँह दबाकर क्यों हँस रहे हैं" अब कौन कहे कि आपकी शक्ल देखकर हँस रहे हैं। किसी को साहस नहीं हुआ कुछ कहने का।

तब उन्होंने स्वयं ही उलटकर कह दिया—"मैं समझ गया कि आप लोग मुझी पर हँस रहे हैं। लेकिन मैं आप लोगों से पूछता हूँ, "मोहि का हँससि कि कोहरहि'—मुझ पर हँस रहे हैं कि कुम्हार पर। घड़ा अगर टेढ़ा हो जाय तो घड़े का दोष है कि कुम्हार का? अगर मैं ईश्वर की रचना हूँ तो कुम्हार ने मुझे जैसा बनाया, वैसा मैं बन गया। आप लोगों को हँसना है तो ईश्वर पर हँसे, घड़े पर क्यों हँस रहे हैं?" इस प्रकार उपहास और उपेक्षा को इतने आनन्द से स्वीकार कर लेना तो सन्त चरित्र की विशेषता है। मन्थरा एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुई सामान्य नारी मात्र है। कई लोग यह समझते हैं कि मन्थरा ने जो कुछ किया, वह कैकेयी के हित के लिए किया। पर इस बात में सत्यता बिलकुल नहीं है। उसने जो कुछ किया उसमें कैकेयी का हित केवल एक दिखावा मात्र था। यहाँ पर एक सूत्र मैं आपसे कह दूँ। गोस्वामी जी कहते हैं कि लोभ के दो बल हैं—

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहि बिचारि॥ ३/३८ख

—लोभी व्यक्ति के जीवन में दो बातें होती हैं—इच्छा और दम्भ। इच्छा होती है यह बात तो समझ में आती है, पर दम्भ भी होता है इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि लोभी अगर दूसरे के सामने लोभी दिखे तो उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होगी। लोभी दम्भ करता है, दिखावा करता है कि उसके जीवन में लोभ नहीं है। और तब उसका परिणाम क्या होता है? लोग ऐसे व्यक्ति पर विश्वास करके धोखा खाते हैं। सुनते हैं कि महात्मा जी नोट दूना कर देते हैं पर बदले में कुछ नहीं लेते। बस दो रोटी खाकर सन्तुष्ट रहते हैं। बड़े काम के हैं। इनसे अपना स्वार्थ सिद्ध हो सकता है। तो जहाँ इच्छा के साथ दम्भ मिल जाता है, वहाँ ठगवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। और मन्थरा में यही इच्छा और दम्भ की वृत्ति विद्यमान है। वह कैकेयी की बड़ी हितैषी होने का दिखावा करती है। परन्तु वस्तुतः उसके मन में तो कैकेयी के प्रति भी आक्रोश है। क्योंकि ऐसा लगता है कि सर्वत्र उपेक्षित मन्थरा से कम-से-कम कैकेयी तो बड़ा स्नेह करती है। लेकिन कैकेयी के स्नेह में भी आनन्द लेने की वृत्ति थी। वे स्वयं तो बड़ी सुन्दर थीं और मन्थरा थी कुरूप। जैसे एक धनी व्यक्ति एक निर्धन को देखकर इसलिए प्रसन्न होता है कि उसके गर्व को उससे सन्तोष मिलता है। क्योंकि अपने से अधिक धनी को देखकर वह अपने को धनी कैसे मानेगा। इसी तरह सुन्दर व्यक्ति कुरूप को देखकर अपनी सुन्दरता पर गर्व करता है कि मैं कितना सुन्दर हूँ। और रामायण में कई अवसरों पर ऐसा भी संकेत मिलता है कैकेयी जी मन्थरा पर जब तब व्यंग भी कसती रहती थीं।

इसलिए मन्थरा के मन में किसी के भी प्रति, यहाँ तक कि कैकेयी के प्रति भी सहानुभूति नहीं है। उसके मन में प्रत्येक व्यक्ति से बदला लेने की वृत्ति विद्यमान है। और उसका परिणाम यह हुआ कि उसने सारे घटनाक्रम को बदल दिया। वह स्वयं तो रोगी थी ही, औरों को भी रोगी बना देती है। गोस्वामी जी कहते हैं कि रामराज्य होने वाला है। चारों ओर नगर सजाया जा रहा है। मन्थरा अचानक पूछ बैठती है कि नगर क्यों सजाया जा रहा है? लोगों ने कहा—'क्या तुम्हें पता नहीं? श्रीराम का राज्याभिषेक होने वाला है।' यह सुनकर मन्थरा को बड़ा बुरा लगा कि इतनी तैयारियाँ चल रही हैं, बाहर के सब लोगों को मालूम हो चुका और मुझे अभी तक पता नहीं। मुझसे छुपाया गया है। मेरी उपेक्षा की गयी है। तब उसकी सन्देह की वृत्ति जग उठी—जरूर कोई षड्यंत्र की योजना है। और तब उसमें रोग आ गया। कौन-सा रोग? मानस रोगों के सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने कहा है—

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२०/३४

—अगर दूसरों के सुख को देखकर जलन होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि मन का राजयक्ष्मा हो गया है। तपेदिक या टी० बी० हो गयी है। मन्थरा तो पहले ही अस्वस्थ थी, हीनता की वृत्ति से ग्रस्त थी, अब यह राजयक्ष्मा भी आ गया।

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥ २/१२/२

—'मन्थरा ने लोगों से पूछा कि यह कैसा उत्सव है? उनसे श्री रामचन्द्र जी के तिलक की बात सुनते ही उसका हृदय जल उठा।' तो राजयक्ष्मा का सबसे पहला प्रभाव हृदय पर ही पड़ता है। मन्थरा का हृदय जलने लगा। इसीलिए गोस्वामी जी ने व्यंग्य किया कि शत्रुघ्न जी ने जब मन्थरा को मारा तो वह मुँह के बल गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। रक्त निकलते देखकर भरत जी ने कहा कि यह तो रक्त ही बता रहा है कि इसे राजयक्ष्मा हुआ है। जब राजयक्ष्मा बहुत बढ़ जाता है, तो मुँह से रक्त भी आने लगता है। तो जब व्यक्ति मन के राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो जाता है, जब वह दूसरों के सुख को देखकर जलने लगता है, तब उसके सामने दो ही उपाय होते हैं— या तो वह स्वयं पुरुषार्थ करके सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है या दूसरों के सुख को छीनने का प्रयत्न करता है, दूसरे को सुख से वंचित करने की चेष्टा करता है। मन्थरा यह तो समझती है कि मैं सिंहासन प्राप्त नहीं कर सकती, पर राम को सिंहासन पर बैठने से रोक तो अवश्य सकती हूँ। और तब परिणाम क्या होता है?—अब उसने बुद्धि का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। उसने सोचा

कि अब तो बस एक ही रात बची है, अब ऐसा कौन-सा उपाय किया जाय जिससे राम को राज्य न मिलने पाए। और तब मन्थरा योजना बनाती है और उस कुटिल योजना को लेकर कैकेयी के पास जाती है। और क्या करती है? वही भेद बुद्धि से प्रारम्भ करती है। वह कैकेयी से कहती है कि कल राम को राज्य मिलने वाला है। यह सुनकर कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हो जाती हैं और यहाँ तक कह उठती हैं कि मन्थरा! अगर यह समाचार सत्य है तो तुम जो माँगोगी वही दूँगी। यहाँ पर देखने से तो यही लगता है कि कैकेयी स्वस्थ हैं। पर यदि इसके अन्तरंग में पैठ कर विचार करें तो क्या दिखाई देता है? यहाँ पर गोस्वामी जी बड़ा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूत्र देते हैं।

काम, क्रोध और लोभ की समस्या प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से जुड़ी हुई है और ज्ञानी, भक्त तथा कर्मी के जीवन में तो क्रोध, काम एवं लोभ की विशेष परीक्षा होती है। क्रोध के सन्दर्भ में ज्ञानी की बड़ी परीक्षा है। अगर क्रोध आ रहा है तो अभी ज्ञान में कहीं-न-कहीं कोई कमी है। और काम के सन्दर्भ में भक्त की बड़ी परीक्षा है। यदि काम का आकर्षण उसको आकृष्ट कर रहा है तो सच्चे अर्थों में राम का आकर्षण उसके जीवन में नहीं है। और लोभ की वृत्ति अगर बनी हुई है तो उसके जीवन में निष्काम कर्म का सच्चा पालन नहीं हो रहा है। तो काम, क्रोध और लोभ ये तीनों क्रमशः भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से जुड़े हुए हैं। ज्ञान से क्रोध क्यों जुड़ा हुआ है? क्रोध कैसे आता है? अभी आप भोजन कर रहे हैं और भोजन करते समय अचानक जीभ अपने ही दाँतों से दब जाती है और केवल दब ही नहीं जाती, कभी-कभी तो कट भी जाती है और खून निकलने लगता है। पर इतना होने पर भी क्या आपको दाँतों पर क्रोध आता है? क्या आप तुरन्त डाक्टर के पास जाकर यह कहते हैं कि इन दाँतों को आप निकाल दीजिए, इसने आज मेरी जिह्वा को कष्ट दिया है। दांत को दण्ड क्यों नहीं दिलवाते? वैसे तो रास्ते में भीड़ में अगर पैर भी छू जाए तो लोग भिड़ जाते हैं कि तुमने मुझे पैर से मार दिया या धक्का दे दिया, देखकर नहीं चलते? लेकिन यहाँ पर तो रामायण में इसका मनोविज्ञान बताया गया है। ज्ञान का अर्थ है कि जहाँ पर भेद-बुद्धि मिट गयी है। अद्वैत-वृत्ति आ गयी है। और जहाँ पर अद्वैत वृत्ति रहेगी, वहाँ पर क्रोध कैसे आयेगा? क्रोध का मूल सिद्धान्त तो यही है कि—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥ ६/१११/ख

—'बिना द्वैत बुद्धि के क्रोध कैसा और बिना अज्ञान के क्या द्वैत बुद्धि हो सकती है? माया के वश में रहने वाला परिच्छिन्न जड़ जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है?' क्रोध आ गया तो इसका अभिप्राय यह है कि अभी द्वैत बना हुआ है। यहीं तो ज्ञानी जी एक बार असफल हो गये न! हमारे लोमस जी बहुत बड़े ज्ञानी थे। और भुसुण्डि शर्मा जब उनसे शिक्षा लेने आये तो उनको भी उन्होंने यही उपदेश दिया कि अरे, तू किस ईश्वर को ढूँढ़ रहा है, वह ईश्वर तुझसे अलग थोड़े ही है?

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥ ६/११०/६

—जैसे जल और तरंग अलग नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर और तुम अलग नहीं हो। तुम किसे खोज रहे हो? तरंग जल को ढूंढे क्या यह संगत हो सकता है। बड़ी ऊँची ज्ञान की बात कही। अभेद तत्त्व की बात कही। लेकिन भुसुण्डि जी तर्क करने लगे। और उसका परिणाम यह हुआ कि थोड़ी देर बाद लोमस जी की आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी हो गयीं, होंठ फड़कने लगे और उन्हें क्रोध आ गया—

मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा। ७।११०/१४

—और जब देखा कि लोमस जी को क्रोध आ गया है, तो काकभुसुण्डि जी ने कहा कि पता चल गया—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु'—कह तो रहे हैं भेद नहीं है और इतनी सी बात पर रुष्ट हुए जा रहे हैं। अतः द्वैत से ही क्रोध उत्पन्न होता है और द्वैत अगर विद्यमान है तो ऐसी परिस्थिति में अद्वैत तत्त्व की बात करना व्यर्थ है। बल्कि आगे चलकर यह लिखा हुआ है कि लोमस जी को इतना क्रोध आ गया कि वे बिगड़कर बोले—'अरे, सठ!' अभी तक तो वे कह रहे थे कि तू साक्षात् ब्रह्म है, और अब कहने लगे—सठ! सम्बोधन का शब्द ही बदल गया। जहाँ पर आग्रह होता है, वहाँ पर भी व्यक्ति को क्रोध आ जाता है। भले व्यक्तियों को भी अपने सिद्धान्त और मान्यता का आग्रह हो जाता है। व्यक्ति यह मान लेता है कि मैं जितना ठीक समझता हूँ, उतना ठीक कोई नहीं समझता। तो ऐसा व्यक्ति अपनी मान्यता दूसरों के ऊपर लादने की चेष्टा भी करता है। और दूसरा व्यक्ति जब उस मान्यता को स्वीकार नहीं करता तो उसको क्रोध आ जाता है कि मैं तो इसको इतनी बढ़िया बात कह रहा हूँ और यह मेरी बातों पर ध्यान नहीं देता। यही मनोविज्ञान यहाँ पर दिखाई देता है। वैसे लोमस जी बड़े भक्त थे, बड़े मुनि थे और वे अपनी समझ से भुसुण्डि जी को बहुत बढ़िया ज्ञान देना चाहते थे। लेकिन काकभुसुण्डि जी बेचारे तो उस समय केवल भुसुण्डि थे, काकभुसुण्डि नहीं हुए थे। भुसुण्डि जी ने

अपनी लाचारी बताई तो उनको क्रोध आ गया और इतना क्रोध आया कि बिगड़कर वे बोले—

> सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला।
> सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥ ७/१११/१५

—'जा, तेरे अन्तःकरण में पक्षपात है, तू चण्डाल पक्षी हो जा।' भुशुण्डि कौवा हो गये। उन्होंने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। मुनि जी सजग व्यक्ति थे। क्रोध आ गया पर क्रोध आ जाने के बाद भी अपनी भूल को समझ लेना, उनकी महिमा थी। यह उनके चरित्र का गौरवपूर्ण पक्ष है। क्या? अगर क्रोध के बदले में भुसुण्डि को भी क्रोध आ जाता तो शायद लोमस जी के मन में कोई पश्चाताप न होता। लेकिन इन्हें क्रोध आ गया और बदले में भुसुण्डि को क्रोध नहीं आया, तो सोचने लगे कि मैं तो अद्वैत कह रहा हूँ और यह कह रहा है द्वैत, पर क्रोध इसने जीत लिया है और मैं नहीं जीत पाया। तो भीतर से ज्ञानी तो यही है, मेरा ज्ञान अभी कहीं-न-कहीं अधूरा है। और तब उन्होंने भुसुण्डि को पास बुलाया और जो चाहता था, वही उपदेश देकर उसे धन्य बनाया।

हम मन्थरा और कैकेयी के सन्दर्भ में देखें तो यहाँ पर भी काम, क्रोध तथा लोभ तीनों हैं। तीनों को एक तरह से जोड़ा गया है। मन्थरा ने क्या किया? ज्ञान की दृष्टि से भी, भक्ति की दृष्टि से भी और कर्म की दृष्टि से भी—तीनों दृष्टियों से उसने अयोध्या में इतनी प्रतिकूलता की सृष्टि कर दी कि काम, क्रोध, लोभ—तीनों एकत्र हो गए। 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु' अर्थात् भेद बुद्धि के बिना क्रोध नहीं आता। अब आप ध्यान से देखें कि मन्थरा क्या करने जा रही है? कैकेयी के मन में तो राम के प्रति कोई क्रोध नहीं था। मन्थरा ने जब कहा कि राम को राज्य मिलने वाला है, तो कैकेयी प्रसन्न हो उठती हैं। मन्थरा जानती थी, उसने तय कर लिया था कि जब तक मैं इनकी बुद्धि में भेद नहीं उत्पन्न करूँगी, तब तक इनको राम के प्रति द्वेष नहीं होगा, क्रोध नहीं आयेगा—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु', और तब तक मेरी योजना सफल नहीं होगी। और अविलम्ब उसने अपनी भूमिका प्रारम्भ कर दी। उसने कैकेयी को याद दिलाया—'जानती हो राम किसके बेटे हैं?' कैकेयी के मन में भेद नहीं है, उनके लिए श्री राम और भरत समान हैं। और तत्वतः श्री राम और भरत तो एक हैं ही, पर यहीं भेद बुद्धि की प्रतीक—मन्थरा, दोनों में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा करती है। पर कैकेयी कहती है—'नहीं नहीं, मन्थरा! राम तो मुझे अपनी माँ से भी अधिक चाहते हैं।' इस पर मन्थरा ने तुरन्त कुटिलतापूर्ण सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि तुम बिल्कुल ठीक कहती हो।

राम पहले कौशल्या जी से अधिक तुम्हें चाहते थे। वह बड़ी सावधानी से बढ़ रही थी, कैकेयी की बात उसने काटा नहीं, बल्कि कहती है कि आप बिल्कुल ठीक कह रही हैं लेकिन आपको पता है? यह पुराना समाचार है। वे पुराने दिन अब बीत चुके हैं—

> रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
> समउ फिरें रिपु होंहि पिरीते ॥
> भानु कमल कुल पोषनिहारा।
> बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ॥
> जरि तुम्हारि चह सवति उखारी।
> रुँधहु करि उपाउ बर बारी ॥ २/१६/६-८

—'वह जो बात पहले थी, वे दिन अब बीत गये। समय फिर जाने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। सूर्य कमल के कुल का पालन करनेवाला है, पर बिना जल के वही सूर्य उन कमलों को जलाकर भस्म कर देता है। कौसल्या तुम्हारी सौत है। वह तुम्हारे सौभाग्य को नष्ट करने पर तुली हुई है। अपने बेटे को सिंहासन पर बैठाकर तुम्हें संकट में डालना चाहती है।' और इस तरह मन्थरा ने कैकेयी के मन में विद्वेष पैदा कर दिया। कैकेयी पूछती है—'अब क्या करूँ?' मन्थरा याद दिला देती है—बस वे ही दो वरदान, एक लोभ का और एक क्रोध का। लोभ का वरदान यानी—राज्य कौसल्या के बेटे को नहीं, मेरे बेटे को मिलना चाहिए। और क्रोध का वरदान यानी—केवल इतना ही नहीं कि मेरे बेटे को राज्य मिले, बल्कि इसका पूरा सुख तो तब मिलेगा जब कौसल्या से बदला लूँ, उसके बेटे को राज्य से बाहर निकालकर वन में भेज दूँ। मन्थरा ने भेद-बुद्धि की सृष्टि कर उसके मन में लोभ और क्रोध को उत्पन्न कर दिया। और तब उसका परिणाम यह हुआ कि कैकेयी लोभ और क्रोध में भरकर कोप भवन में जा बैठती हैं। और महाराज दशरथ जब कैकेयी के भवन में पहुँचे तो पता चला कि कैकेयी कोप भवन में बैठी हैं। अब इस समय भी अगर महाराज दशरथ लौट जाते तो बात नहीं बिगड़ती। पर उनमें भी वही दुर्बलता थी—काम की दुर्बलता। वह सामने प्रकट हो गयी। वे कैकेयी के सौन्दर्य को देखने की तीव्र लालसा के साथ उसके महल में गये। तो लोभ में भरी हुई कैकेयी कोप भवन में बैठी हुई हैं और जो रही-सही कमी थी उसे महाराज श्री दशरथ ने पूरी कर दी। जब सुना कि कैकेयी कोप भवन में हैं, तो उनके पैर थरथरा उठे, लेकिन चले जा रहे हैं उधर ही। यह व्यंग है। भई जिधर जाने में डर लगे उधर मत जाइए। डर भी लगे और उधर चलते जाना। डर भी लगे और

कुपथ्य भी करे, तो रोग होने का यह महालक्षण है। अतः महाराज दशरथ समझते-बूझते हुए कुपथ्य की ओर बढ़ रहे हैं—

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाँहबल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई॥ २/२४/१-३

बस, वहाँ लोभ और क्रोध तो था ही, दशरथ जी काम लेकर आ गये। और—

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥ ७/१२०/३१

और इस प्रकार ईश्वर जीवन से दूर चले गये और अयोध्या में सन्निपात का आगमन हुआ। इस सन्निपात को भरत जी जैसे वैद्य ही दूर कर सकते हैं। वे अपने चरित्र के द्वारा बताते हैं कि समाज इस रोग के मूल कारण काम, क्रोध और लोभ पर कैसे विजय प्राप्त करे।

□□

प्रवचन-५

मानस-पीयूष

रामचरितमानस में मानस रोगों का विश्लेषण करते हुए उनके निदान, औषधि और चिकित्सा-पद्धति का विशद वर्णन किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में ऐसी मान्यता है कि जब तक व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ सन्तुलित रहते हैं, तब तक वह स्वस्थ रहता है। पर जब इन धातुओं में असन्तुलन उत्पन्न होता है, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से हमारे अन्तर्मन में रहने वाले काम, क्रोध और लोभ जब तक हमारे जीवन में सन्तुलित रहते हैं तब तक हमारा मन स्वस्थ रहता है, और जब ये असन्तुलित हो जाते हैं, तब हमारा मन भी अस्वस्थ हो जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि अगर मनुष्य के अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ—इन तीनों में से कोई एक भी विकृत हो जाए तो मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। तब उसे चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन जब व्यक्ति के मन में ये तीनों एक साथ ही असन्तुलित हो जाएँ, तो जैसे शरीर के सन्दर्भ में त्रिधातु के कुपित होने पर व्यक्ति को सन्निपात हो जाता है, इसी तरह मन को भी सन्निपात हो जाता है। और इस मानसिक सन्निपात के सन्दर्भ में अयोध्या की मनःस्थिति क्या है। गोस्वामी जी एक तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं। एक ओर लंका है और दूसरी ओर अयोध्या। लंका को हम पाप की नगरी के रूप में देखते हैं और अयोध्या को पुण्य की नगरी के रूप में। वैसे अगर शाश्वत दृष्टि से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में ही किसी का हृदय अयोध्या के समान होता है तो किसी का लंका के समान। जहाँ हृदय लंका के समान होता है वहाँ स्वाभाविक रूप से असन्तुलन का ही राज्य होता है। वहाँ काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ ही राज्य करती हैं। लेकिन अयोध्या जैसे हृदय में भी यह असन्तुलन उत्पन्न होता है। बुरे व्यक्ति के हृदय में तो काम, क्रोध, लोभ निरन्तर सक्रिय रहते ही हैं पर भले कहे जानेवाले व्यक्ति के जीवन में भी इनके उद्भव की सम्भावना है। जब व्यक्ति के जीवन में इन दुर्गुणों का उद्भव होता है तब उसका क्या परिणाम होता है? जब मन्थरा के द्वारा कैकेयी जी के अन्तःकरण में क्रोध और लोभ की विकृति उत्पन्न की जाती है और महाराज दशरथ काम की वृत्ति लेकर कैकेयी के भवन में जाते हैं, तब इन त्रिदोषों के उदय के परिणामस्वरूप तीन वस्तुएँ जीवन से दूर चली जाती हैं। दोनों ओर तीन-तीन है। जब काम,

लोभ हमारे जीवन में आते हैं तो भगवान श्री राम, सीता जी और लक्ष्मण जीवन से दूर चले जाते हैं। भगवान श्री राम, सीता जी और लक्ष्मण का एक रूप तो ऐतिहासिक है और दूसरा रूप है आध्यात्मिक। उनका यह आध्यात्मिक रूप क्या है? जब भगवान राम चित्रकूट में निवास करते हैं तो गोस्वामी जी वर्णन करते हुए लिखते हैं कि भगवान श्री राम, सीता जी और लक्ष्मण चित्रकूट में निवास करते हुए कैसे लग रहे हैं—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ॥ २/३२१

—श्री राम मानो मूर्तिमान ज्ञान हैं। जनकनन्दिनी श्री सीता मूर्तिमती भक्ति हैं और लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। तो उन तीनों (काम, क्रोध, लोभ) के आने पर इन तीनों (श्री राम, श्री सीता, लक्ष्मण) का दूर चले जाना सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। जब क्रोध आवेगा तो जीवन से ज्ञान दूर चला जावेगा अर्थात् श्री राम दूर चले जायेंगे। और जब काम आयेगा तो जीवन से भक्ति दूर चली जावेगी अर्थात् श्री सीता जी दूर चली जायेंगी। और जब जीवन में लोभ आवेगा तो वैराग्य दूर चला जावेगा अर्थात् घनीभूत वैराग्य लक्ष्मण जी दूर चले जायेंगे। व्यक्ति के जीवन में अगर काम, क्रोध, लोभ होगा तो उसका अन्तःकरण ज्ञान, भक्ति, वैराग्य से शून्य होगा। ज्ञान का मुख्य सम्बन्ध अद्वैत से है। रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में यह संकेत किया गया है कि क्रोध तो बिना द्वैत के आता नहीं और अगर किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में द्वैत बना हुआ है, तो इसका अर्थ यही है कि उसके अन्तःकरण में अज्ञान है—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान ७/१११ख

श्री राम हैं अखण्ड अद्वैत ज्ञानघन और जिसके अन्तःकरण में द्वैत की वृत्ति उत्पन्न हुई तो यही भेदवृत्ति श्री राम के दूर होने का कारण है। जब तक कैकेयी के अन्तःकरण में श्री राम और श्री भरत में भेदवृत्ति नहीं थी, तब तक श्री राम और श्री भरत उन्हें प्राप्त थे। लेकिन ज्योंही श्री राम और श्री भरत में भेद बुद्धि उत्पन्न हुई तो परिणामस्वरूप उनके अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न हुआ जिसके फलस्वरूप उनमें यह वृत्ति आ गई कि श्री राम यहाँ से जितनी जल्दी चले जायँ, उतना ही अच्छा। कैकेयी ने महाराज दशरथ से जो दो वरदान माँगे उनका क्रम इस प्रकार था : पहला—राज्य भरत को दिया जाय और दूसरा—श्री राम चौदह वर्ष के लिए वन में निवास करें।

देहु एक बर भरतहि टीका। २/२८/१
तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिस रामु बनबासी ॥ २/२८/३

—तो वरदान तो इस क्रम से माँगा गया था कि पहले भरत का राज्याभिषेक हो और बाद में राम का वनवास। भरत को राज्य अर्थात् अपने पुत्र को सुख और राम को वनवास यानी जिसे वे पराया मानती हैं उसे दुख मिले। लेकिन उनमें इतना तीव्र आक्रोश है कि वे कह देती हैं कि भरत को राज्य मिलने में कुछ विलम्ब हो जाय तो मुझे सह्य है, पर राम के वनवास में अगर विलम्ब हुआ तो मैं नहीं सह सकती। यह है क्रोध की प्रतिक्रिया। इसका अभिप्राय यह है कि हमें सुख मिलने में चाहे देर लगे पर दूसरों को दुख मिलने में देर बिलकुल न हो। महाराज श्री दशरथ को धमकी देते हुए कैकेयी कहती है—

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ॥
२/३३/

—कल प्रातःकाल होते ही राम मुनियों का वेश धारण कर अगर वन को नहीं चले जाते हैं तो आप जानते हैं कि इसका क्या परिणाम होगा? क्या? 'मोर मरनु'—मेरी मृत्यु। कैकेयी जी ने दो ही वरदान तो माँगे थे। इस समय महाराज दशरथ कह सकते थे कि आपने यह वरदान तो नहीं माँगा था कि कल ही ऐसा हो। तो वे कहती कि नहीं वे दो वरदान तो मैंने माँगे थे और आपने दिये भी पर तीसरे के लिए तो मैं प्राण की बाजी लगा दूँगी। महाराज दशरथ ने कैकेयी की ओर बड़ी दयनीय दृष्टि से देखा और उनकी दृष्टि में यही संकेत था कि अगर तुम राम को वनवास दोगी तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। पर कैकेयी का हृदय कितना कठोर हो गया। किसी भी पत्नी के लिए उसका पति ही सर्वस्व होता है। प्रत्येक पत्नी के मन में यही अभिलाषा रहती है कि वह सौभाग्यवती के रूप में ही शरीर-त्याग करे। और इसीलिए महाराज दशरथ ने सोचा कि मेरी मृत्यु की बात सुनकर सम्भव है कि कैकेयी वरदान वापस ले ले। लेकिन कैकेयी महाराज श्री दशरथ के इस भावना का उल्लंघन करके बोलीं कि महाराज यदि राम के वन जाने से आपकी मृत्यु होगी तो उसके कल प्रातः ही वन न जाने से मेरी मृत्यु होगी। महाराज दशरथ पूछ सकते हैं कि अच्छा तो तुम किसकी मृत्यु चाहती हो? कैकेयी ने कह दिया—

मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ॥

—मेरा मरना ठीक नहीं। क्यों? वे बोलीं—मैं मर जाऊँगी तो आपको अपयश मिलेगा। इसका संकेत यह है कि आप मर जायेंगे तो आपको कीर्ति मिलेगी कि सत्य की रक्षा के लिए आपने इतना बड़ा बलिदान कर दिया। और मैं तो यही चाहती हूँ कि आपका शरीर रहे चाहे न रहे, पर आपकी कीर्ति बनी रहे। कैकेयी के अन्तःकरण में निष्ठुरता की यह पराकाष्ठा आ जाती

है। इतनी तीव्रतम आक्रोश की वृत्ति आ जाती है कि वे राम को एक क्षण के लिए भी अपने सामने देखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। आगे चलकर श्री जानकी जी और श्री लक्ष्मण भी श्री राम के साथ वन जाने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। श्री राम जाएँगे तो सीता और लक्ष्मण भी साथ जायेंगे ही। ज्ञान ही नहीं रहेगा तो न भक्ति ही रहेगी और न वैराग्य ही। जब रहेंगे तो तीनों साथ ही रहेंगे। उस समय कुछ लोग सीता जी और लक्ष्मण जी से कहने लगे कि आप लोग मत जाइए। यह सुनकर कैकेयी की मनःस्थिति क्या है?

सो सुनि तमकि उठी कैकेयी ॥ २/७८/१

उनमें क्रोध की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई। क्रोध में भरी हुई कैकेयी तमक उठी, और क्या किया—

मुनि पट भूषन भाजन आनी।
आगे धरि बोली मृदु बानी ॥ २/७८/२

—मुनियों के योग्य वस्त्र, कमण्डलु आदि वस्तुएँ लाकर कैकेयी श्री राम के सामने रख देती हैं और उनसे कहती हैं कि राम, ये लोग तुम्हारे हितैषी नहीं हैं। लोभ की वृत्ति में जो दम्भ की प्रकृति निहित रहती है, वह कैकेयी की भाषा में विद्यमान है। दम्भ का अर्थ है कि मन में कुछ और है और दिखाया कुछ और ही जा रहा है। कैकेयी राम का हितैषी होने का दिखावा करती हैं। वे कहती हैं—भोग से त्याग-तपस्या श्रेष्ठ है। मैं तुम्हें तपस्या का अवसर दे रही हूँ, पर ये लोग तुम्हारे मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं, इसलिए तुम जितना शीघ्र हो सके, यहाँ से चले जाओ। और—

नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा।
सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥
सुकृतु सुजसु परलोकु नसाऊ।
तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ॥ २/७८/३-४

और कैकेयी जी का यह तीव्र आक्रोश तब तक शान्त नहीं होता जब तक श्री राम वन नहीं चले जाते। इसका अभिप्राय यह है कि एक बार जहाँ इस क्रोध की, द्वैत की, भेद की वृत्ति आती है, उस समय व्यक्ति के अन्तःकरण से ज्ञान दूर चला जाता है। उस समय राम भी प्रिय नहीं लगते, ईश्वर भी अप्रिय लगता है। जो अभिन्न आत्मस्वरूप है, इसमें भी भेद प्रतीत होने लगता है। और यही कैकेयी के जीवन में हुआ। इसी प्रकार जब काम की वृत्ति आती है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति के अन्तःकरण से भक्ति दूर चली जाती है। महाराज दशरथ के चरित्र में कमी क्या थी? जब वे कैकेयी के पास

आये तो उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो वाक्य उन्होंने कहा वह भक्ति से शून्य बना देने वाला है। वह वाक्य क्या था? उन्होंने कहा—

जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चंद चकोरू ॥ २/२५/४

—कैकेयी तुम तो जानती हो कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा है और मैं चकोर हूँ। भक्त का लक्षण बताते हुए विनय पत्रिका में तुलसीदास जी भगवान राम से कहते हैं कि मैं चकोर बनना चाहता हूँ। लेकिन चकोर किस चन्द्रमा का बनना चाहते हैं?

रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजिये।

—हे राम, चन्द्र तो आप हैं ही मुझे चकोर बना लीजिए। तो भक्त तो वह है जिसकी दृष्टि निरन्तर श्री रामचन्द्र के मुख पर लगी हुई है। महाराज श्री दशरथ भी श्री रामचन्द्र-मुखचन्द्र के चकोर हैं, लेकिन इसके साथ-ही-साथ जब उनके अन्तःकरण में कैकेयी का मुखचन्द्र आता है तो वह भी उन्हें आकर्षित कर लेता है। इसका अभिप्राय यह कि वे चाहे कितने भी बड़े भक्त क्यों न रहे हों, लेकिन उस समय उनका जो व्यवहार है, वह भक्ति से शून्य है। व्यक्ति के जीवन में जब भी ऐसी स्थिति आती है तब भक्तिरूपी सीता उसके जीवन से दूर चली जाती है। यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार लोभ की तीव्र प्रवृत्ति आने पर वैराग्य जीवन से दूर चला जाता है। इस सन्दर्भ में अगर विचार करके देखें तो गोस्वामी जी ने संकेत के रूप में मन्थरा को इन तीनों रूपों में प्रस्तुत किया है। मन्थरा की भूमिका क्या है? मन्थरा कैकेयी के अन्तःकरण में भेद-बुद्धि उत्पन्न करके ज्ञान को जीवन से दूर कर देती है। मन्थरा कैकेयी के अन्तःकरण में राम के प्रति संशय उत्पन्न कर देती है। संशयात्मिका वृत्ति भक्ति की विरोधी है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥ ६/९०/क

—एक तो मन्थरा ने कैकेयी जी के मस्तिष्क में इस घातक वृत्ति को पैठा दिया कि राम तुम्हारे अपने नहीं हैं, भरत तुम्हारे अपने हैं। और भक्ति की दृष्टि से भक्त को जब तक भगवान् के प्रत्येक क्रियाकलाप में गुण और शील दिखाई देगा तथा उनके गुणों पर हमें विश्वास रहेगा, तभी तक हमारे जीवन में भक्ति रहेगी। पर मन्थरा ने कैकेयी के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न कर दिया कि पहले तो राम तुमसे प्रेम करते थे पर अब बिल्कुल नहीं करते। अब तो वे सिंहासन पर बैठते ही भरत को कारागार में डाल देंगे। तुम्हें सौत की सेवा करनी पड़ेगी। कैकेयी के अन्तःकरण में राम के शील के प्रति संशय उत्पन्न हो

गया, भक्ति विरोधी वृत्ति उत्पन्न हो गई। और जब उनमें राज्य का लोभ उत्पन्न कर दिया गया तो मानों वैराग्य-विरोधी-वृत्ति की उत्पत्ति हो गयी। यही संकेत आपको अरण्यकाण्ड में भी मिलेगा। इसके प्रतिकूल वह दूसरा प्रसंग है। गोस्वामी जी इसी चित्र को वहाँ तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं। वहाँ ज्ञान, भक्ति, वैराग्य—तीनों संकट में दिखाई दे रहे हैं। अयोध्याकाण्ड में तो इनको केवल वन भेज दिया गया, पर अरण्यकाण्ड में क्या दिखायी दे रहा है? भगवान् राम रुदन कर रहे हैं। श्री सीता जी लंका में बन्दिनी हैं। और एक ऐसा भी अवसर आता है कि जब लंका में लक्ष्मण जी भी मूर्छित हैं। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की स्थिति अयोध्या की अपेक्षा दण्डकारण्य में और भी अधिक संकटापन्न है। वहाँ पर भी ये तीनों वृत्तियाँ आती हैं और एकीकृत हो जाती हैं। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य जीवन से दूर चले जाते हैं। गोस्वामी जी ने इस सन्दर्भ को इस क्रम में बाँध दिया कि लक्ष्मण जी ने भगवान राम से कुछ प्रश्न किए। और वे प्रश्न ऐसे थे जो जीवन में उठने वाले समस्त प्रश्नों को अपने भीतर समेटे हुए थे। लक्ष्मण जी पूछते हैं—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥ ३/१३/८
ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ॥ ३/१४

—ब्रह्म क्या है, जीव क्या है, माया क्या है, ज्ञान क्या है, वैराग्य क्या है, भक्ति क्या है? जब लक्ष्मण जी ने एक साथ इतने प्रश्न रख दिये तो भगवान् राम ने कहा—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। ३/१४/१

—लक्ष्मण, मैं थोड़े में ही सब कह रहा हूँ। लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रश्न मेरा इतना विस्तृत और उत्तर संक्षेप में क्यों? भगवान् राम का तात्पर्य था कि लक्ष्मण! भाषण दूँगा संक्षेप में और दिखलाऊँगा विस्तार में। अभिप्राय यह है कि आगे चलकर जितनी घटनाएँ होती हैं वे सब मानों लक्ष्मण जी के प्रश्नों के ही उत्तर के लिए हैं। लक्ष्मण जी जिस ज्ञान, वैराग्य, माया और भक्ति का लक्षण जानना चाहते थे उसे भगवान् श्री राघवेन्द्र ने शब्दों के द्वारा तो संक्षेप में कहा पर बाद में प्रत्यक्ष दिखा दिया। सूर्पणखा जब भगवान् के पास आई तो उन्होंने उसे लक्ष्मण के पास भेज दिया। लक्ष्मण जी ने भगवान् से पूछा था कि माया का लक्षण क्या है। तो मानों भगवान् राम का यह संकेत था कि लो, माया को प्रत्यक्ष भेज रहा हूँ, सुनकर शायद उतना नहीं समझ पाते जितना प्रत्यक्ष देखकर समझ सकोगे। यह प्रत्यक्ष अविद्या माया है। इसलिए

अविद्या माया और सूर्पणखा, दोनों के लिए एक ही विशेषण का प्रयोग किया गया—

बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा ॥
जा बस जीव परा भव कूपा ॥ ३/१४/४-५

और—

सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ॥ ३/१६/३

—यह दुष्ट शब्द माया और सूर्पणखा, दोनों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। यह सूर्पणखा मूर्तिमती अविद्या माया है। जब वह भगवान् राम के पास आती है, तब काम, क्रोध और लोभ की वृत्ति को लेकर आती है। यहाँ पर गोस्वामी जी सूर्पणखा के सन्दर्भ में एक सुन्दर संकेत देते हैं। वे इसका परिचय क्या देते हैं? अगर ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से देखें तो सूर्पणखा का परिचय दिया जाना चाहिए कि ये विश्रवामुनि की बेटी हैं। पर गोस्वामी जी ने कहा कि आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह कहना ठीक नहीं है। विश्रवा तो मुनि हैं और मुनि का अर्थ है मननशील। तो क्या मननशील मुनि का तात्पर्य यही है कि वह अपने अन्तःकरण में इस अविद्या माया या वासना को जन्म दे? नहीं मननशील माया को जन्म नहीं देगा। तब उन्होंने माया के साथ मोह के सम्बन्ध को अनोखे ढंग से प्रस्तुत कर दिया—

सूपनखा रावन कै बहिनी।

—सूर्पणखा कौन है? रावण की बहन। मोह की बहन माया। और यह माया पहले तो सुन्दर रूप बनाकर, काम का आकर्षण लेकर आती है और भगवान् राम से विवाह का प्रस्ताव करती है। कहती है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।
यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥ ३/१६/८

—न तो तुम्हारे समान कोई सुन्दर पुरुष है और न मेरे समान कोई सुन्दर नारी। तो भगवान तो यह सुनने के बहुत अभ्यस्त थे कि आपके समान कोई सुन्दर नहीं है, पर यह भाषा तो उन्हें पहली बार सुनने को मिली कि मेरे समान कोई सुन्दरी नहीं है। और तब भगवान राम ने किसकी ओर देखा? काम के आकर्षक से बचने का उपाय क्या है? माया के द्वारा अगर काम की सृष्टि की गई हो तो उस काम से बचने का उपाय भगवान राम ने बता दिया। काम से बचने का उपाय है—सीतहि चितइ। भगवान् राम ने सूर्पणखा की ओर देखा ही नहीं। तो देखा किसकी ओर?

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता।

—श्री सीताजी की ओर देखा। इसका तात्पर्य यह है कि काम और वासना के आकर्षण से छुटकारा पाना हो तो भक्ति की ओर दृष्टि कर लें। जब दृष्टि भक्ति की ओर चली जायगी तब वासना का आकर्षण दिखाई नहीं देगा। तो एक ओर तो भगवान ने यह दिखा दिया कि भक्ति का आश्रय लेने पर काम-वासना का प्रभाव नहीं पड़ता। और लक्ष्मण जी ने पूछा था कि वैराग्य क्या है? तो उसके पश्चात् भगवान राम ने कहा कि जो माया के आकर्षण में न फँसे वही वैराग्य है। भगवान जानते थे कि लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। इसलिए माया को उन्हीं के पास भेज दिया सूर्पणखा से कह दिया—

अहइ कुआर मोर लघु भ्राता।।३/१६/११

—मेरा छोटा भाई कुमार है। वहाँ तुम चेष्टा करके देखो। सूर्पणखा लक्ष्मण जी के पास जाकर पुनः वही प्रस्ताव रखती है। कहती है—तुम्हारे बड़े भाई ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है और मुझे पता है कि तुम कुमार हो। तुम मेरे विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार करो। लक्ष्मण चाहते तो अस्वीकार कर सकते थे, पर वे तो भगवान श्री राम की बात को काटना नहीं चाहते थे। और उन्होंने इसके उत्तर में सबसे पहला कार्य यह किया कि 'प्रभु बिलोकि' भगवान की ओर देखा। वैराग्य सुदृढ़ कब रहेगा? 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु'—ज्ञान और वैराग्य परस्पर पूरक है। न ज्ञान के बिना वैराग्य सुरक्षित है और न वैराग्य के बिना ज्ञान। इसलिए सबसे पहले लक्ष्मण जी की दृष्टि भगवान की ओर गई। वैराग्य की दृष्टि ज्ञान की ओर गई। वैराग्य वही है जो एक क्षण के लिए भी ज्ञान से विचलित नहीं होता। जो सदा ज्ञान में स्थिर है वही सच्चा वैराग्यवान है। तो लक्ष्मण जी की दृष्टि चली गई श्री राम की ओर और उन्हीं पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई। वार्तालाप तो कर रहे हैं सूर्पणखा से कि हे सुन्दरी, श्री राम ने तुम से व्यंग-विनोद ही किया होगा, मैं तो उनका दास हूँ। सूर्पणखा इस उपेक्षा से क्रोधित हो उठी कि इधर तो सुन्दरी भी कह रहा है पर देख बिलकुल नहीं रहा है। पहले तो वह काम की सृष्टि करती है, आकर्षित करने के लिए सुन्दर बनकर आती है। माया अर्थात् जो वास्तविक नहीं है। जैसा है वैसा न दिखाई देकर भिन्न दिखाई दे। सूर्पणखा सुन्दर रूप बनाकर आती है, वह उसका वास्तविक रूप नहीं है—नकली है। और यह भेद तब खुलता है जब वह श्री राम और लक्ष्मण के बीच जा पहुँचती है। माया की वास्तविकता तब प्रकट होती है जब वह ज्ञान और वैराग्य के बीच पहुँच जाती है। तो सूर्पणखा अभी अपने माया के विस्तार में लगी है। काम का प्रदर्शन करती है, क्रोध का प्रदर्शन करती है और लोभ का प्रलोभन

दिखाती है। भगवान राम से कहती है कि मैं विश्वविजेता रावण की बहन हूँ। मुझसे विवाह करके तुम्हें बहुत लाभ होगा। सूर्पणखा का यह वाक्य तो आज भी कई लोगों को बड़ा पसन्द आता है। एक लेखक ने तो लिखा है कि राम अगर बुद्धिमान होते तो अवश्य ही सूर्पणखा से विवाह कर लेते। इससे दो राष्ट्रों का मैत्री सम्बन्ध हो जाता। लंका और भारत एक दूसरे के निकट आ जाते। तो सूर्पणखा प्रलोभन की भी सृष्टि करती है। पर भगवान् राम को न तो सूर्पणखा का सौन्दर्य ही आकृष्ट कर पाता है और न लंका के वैभव का प्रलोभन ही। तब वह अपनी तीसरी वृत्ति को प्रकट करती है। वही क्रम—'कामात्क्रोधोऽभिजायते' सूर्पणखा के अन्तर्मन में तीव्रतम काम-वासना थी और उस वासना का परिणाम यह हुआ कि उसके मन में तीव्रतम क्रोध का उदय हुआ और वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गई—'रूप भयंकर प्रकटत भई।' काम और प्रलोभन तो आकर्षक होता है पर क्रोध भयावह होता है। सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्ति भी जब क्रोधित होता है तो उसकी आकृति बड़ी भयानक हो जाती है। क्रोध में भरी हुई सूर्पणखा अपने भयंकर रूप में प्रकट हो गई और श्री सीता जी को ही अपनी कामना पूर्ति के मार्ग की मूल बाधा समझकर उनको खाने दौड़ी। और तब भगवान राम तुरन्त लक्ष्मण जी को संकेत करते हुए कहते हैं कि अब तुम्हें भक्ति की रक्षा करनी है। तो वैराग्य की दो भूमिकाएँ हैं, एक तो यह कि वह ज्ञान का सदा सहचर है और इसके साथ-ही-साथ वह भक्ति का संरक्षक भी है। तो भक्ति पर जब विपत्ति आई तो भगवान राम ने मूर्तिमान वैराग्य लक्ष्मण को भक्ति की रक्षा का आदेश दिया।

यह सूर्पणखा कौन है? सूर्पणखा शब्द का अर्थ है—सूप के समान नाखून वाली। जिसके नाखून सूप के समान हों वह सूर्पणखा है। वैसे तो शरीर में जितने अंग हैं उन्हें सुरक्षित रखना चाहिए, लेकिन उनमें से एक ऐसा भी है, जिसे काटते रहना चाहिए। और वह क्या है? नाखून। वह जरा-सा भी बढ़ जाय तो कैंची लेकर उसे काट देना चाहिए। शरीर और अँगुली सुरक्षित तो रहेंगे, जब इस नाखून को काटते रहेंगे। और मन के सन्दर्भ में नाखून क्या है? यह जो मन की वासना है, यही नाखून है। और इस वासना का विचार की कैंची से जो काटता रहेगा, वह व्यक्ति जीवन में सुरक्षित रहेगा। लेकिन जो अपने नाखून न कटावे, सूर्पणखा बन जाय तो उसका परिणाम क्या होगा? यह होगा कि उसके नाक-कान दोनों कट जाते हैं। और इसका अभिप्राय यह है कि जो अपने जीवन में वासना को नहीं काटता रहेगा, अन्त में वह अनादृत होगा। भगवान का संकेत पाकर लक्ष्मण जी ने सूर्पणखा पर प्रहार किया और उसकी कुरूपता प्रकट हो गई। इस प्रकार लंका के काम-क्रोध-लोभ तीनों

से मुक्त होकर भगवान राम, सीता जी और लक्ष्मण सुरक्षित हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इतने मात्र से ही सारी बुराई समाप्त हो गयी। बुराइयों का भी बड़ा विस्तार है। सूर्पणखा का बड़ा विस्तृत परिवार है—'यह सब माया करपरिवारा।' वह अभी हार नहीं मानती, अपने भाई खर और दूषण के पास जाती है। (क्रमशः)

फिर वही क्रम—अयोध्याकाण्ड में मन्थरा की जो भूमिका है—कैकेयी के मन में जिस तरह से मन्थरा ने लोभ और क्रोध को जगा दिया, ठीक उसी तरह सूर्पणखा ने यहाँ खर-दूषण के मन में काम और क्रोध की वृत्तियों को जगा दिया। पहले तो यह कहकर वह उनके क्रोध को जगाती है कि उन दो राजकुमारों ने मुझे कुरूप कर दिया है और काम को यह कहकर जगाती है कि उनके साथ में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री है, जो तुम्हारे ही योग्य है। इसका परिणाम यह होता है कि वे इस काम की वृत्ति से प्रेरित होकर राम की ओर बढ़ते हैं, पर आगे चलकर जब उनके काम की पूर्ति में रुकावट आयी तब क्रोध आ जाता है। पहले तो खर-दूषण ने अपने मंत्री से यही कहा कि—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥ ३/१८/५

—"यद्यपि इन लोगों ने हमारी बहन को कुरूप कर दिया है फिर भी ये सुन्दर राजकुमार मारने योग्य नहीं हैं।" बात तो बड़ी ऊँची लगी पर तुरन्त उनकी वासनामयी वृत्ति साकार हो गयी। उन्होंने कहा कि हम तो राम को छोड़ देने के लिए तैयार हैं पर उससे कहो कि—

देहु तुरत निज नारि दुराई।
जीअत भवन जाहु द्वौ भाई ॥ ३/१८/६

—सीता को दे दें और राम-लक्ष्मण दोनों लौट जायँ। पर ये तीनों तो अभिन्न हैं। एक-दूसरे से अलग हो ही नहीं सकते। जब तक ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का समन्वय और सन्तुलन नहीं होगा तब तक समग्र सुख नहीं मिल सकता। पर जहाँ पर वासना की यह वृत्ति विद्यमान है वहाँ यही विडम्बना है कि एक से राग और दूसरे से द्वेष होता ही है। खर-दूषण ने भी यही किया। उन्होंने सीता को पाना चाहा पर राम से अलग करके। वह कहता है कि सीता को मुझे सौंप दो और दोनों भाई अपने घर लौट जाओ। जब उनका मंत्री यह सन्देश लेकर भगवान् राम के पास गया तो श्री राम ने उससे कहा—

हम छत्री मृगया बन करहीं।
तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ॥ ३/१८/९

—"मैं क्षत्रिय हूँ, वन में शिकार के लिए आया हूँ और तुम जैसे दुष्ट पशुओं की ही खोज में था।"

सुनि खर दूषन उर अति दहेऊ। ३/१८/१४

—भगवान् का वाक्य सुनकर खर-दूषण के हृदय में बड़ा दाह उत्पन्न हुआ। क्रोध में पागल होकर उन्होंने भगवान राम पर आक्रमण कर दिया। तब भगवान् ने लक्ष्मण जी से कहा कि राक्षसों की भयंकर सेना आ रही है, सीता की रक्षा का भार मैं तुम्हें सौंपता हूँ।

लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर।
आवा निसिचर कटकु भयंकर॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी।
चले सहित श्री सर धनु पानी ॥ ३/१७/११-१२

लक्ष्मण जी तुरन्त श्री सीता जी को लेकर कन्दरा में चले जाते हैं। और इसका अर्थ क्या है? भक्ति का अर्थ ही है राग। भगवान् राग की सुरक्षा तो तभी कर सकेंगे जब संसार से वैराग्य होगा। इसीलिए तो रामायण में कहा गया है—

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी...॥ ११/८५

—तो भक्ति अत्यन्त अनुरागी है पर उसकी सुरक्षा का तात्पर्य क्या है? रामायण में बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है—

बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥ ६/७९/७

या जैसे उत्तर काण्ड में कहा गया है—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ॥ ७/१२०/ख

इन दोनों प्रसंगों में वैराग्य की तुलना ढाल से की गई है। यह ढाल तो अब आप संग्रहालय में ही देख पायेंगे। आजकल तो उसका प्रयोग नहीं होता। यह ढाल बिल्कुल सूखे चमड़े से बनाई जाती थी। इतिहास को पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में गैंडे के चमड़े से ढाल बनाई जाती थी। गैंडे की खाल अत्यन्त कठोर और मोटी होती है। उसे सुखाया जाता था। खाल का रक्त जब पूरी तरह से सूख जाता था तब उसकी ढाल बनाई जाती थी। तो इतनी कठोरता और इतनी शुष्कता का उद्देश्य क्या था? कोमलता की रक्षा करना। शरीर कोमल है और सामने वाला शत्रु जब आक्रमण कर दे, तलवार चला दे, तो परिणाम यह होगा कि रक्त बहने लगेगा और मृत्यु हो जायगी। तो योद्धा एक ओर तो तलवार से शत्रु पर प्रहार करता है और दूसरी ओर ढाल से अपनी रक्षा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि दुर्गुणों

के आक्रमण से हमारा राग संसार में बह गया, नष्ट हो गया तो हमारी साधना-शक्ति, प्राणशक्ति समाप्त हो जायगी। इसलिए वैराग्य की जो नीरसता है, वैराग्य की जो शुष्कता है, वह भक्ति की कोमलता और सरसता की, भक्ति के राग की रक्षा करने के लिए है। इसीलिए लक्ष्मण जी बड़े नीरस लगते हैं, जो उनके लिए शोभा की बात है। लक्ष्मण जी अगर सरस दिखाई न दें, रूखे-सूखे व कठोर प्रतीत हों, तो यह तो वैराग्य की भूमिका के अनुकूल ही है और यही कार्य उन्हें सौंपा गया है। भक्ति की रक्षा के लिए लक्ष्मण वैराग्य की भूमिका में हैं और भगवान राम? भगवान राम अखण्ड ज्ञान हैं। और ये चौदह हजार राक्षस? ये दुर्गुण और दुर्विचार हैं जो एक साथ अकेले श्री राम के ऊपर आक्रमण कर देते हैं और ज्ञान के द्वारा ही इन पर विजय प्राप्त होती है। तो यहाँ पर दो भूमिकाएँ हैं—सुरक्षा और संहार। वैराग्य ढाल की तरह भक्ति को सुरक्षित रखता है और ज्ञान खड्ग की तरह दुर्गुणों-दुर्विचारों का संहार करता है।

अब यहाँ पर गोस्वामी जी ने एक बड़ी मनोवैज्ञानिक बात बड़े सांकेतिक ढंग से कह दी है। चौदह हजार राक्षस तब अकेले श्री राम के ऊपर आक्रमण कर देते हैं तो ये कोटि-कोटि देवता सब कहाँ चले गये थे? ये सब राक्षस तो देवताओं के शत्रु हैं, उन्हें तो भगवान् राम की सहायता के लिए तुरन्त आना चाहिए था। और यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो ये चौदह हजार राक्षस यदि दुर्गुण-दुर्विचार हैं तो समस्त देवता सद्गुण-सद्विचार हैं। और जहाँ दुर्गुण-दुर्विचार को मिटाने का प्रश्न हो, वहाँ तो सद्गुण-सद्विचार की सशक्त भूमिका होनी चाहिए। पर उनका तो कहीं पता ही नहीं। इसका तात्पर्य क्या है? यह एक आध्यात्मिक सत्य है। सद्गुण-सद्विचार अपने आप में भले ही अच्छे हों, पर वे दुर्गुणों-दुर्विचारों को मिटाने में सक्षम नहीं हैं। कुछ कमी उनमें भी है जिसे मानस में बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जब चौदह हजार राक्षसों ने अकेले भगवान राम पर आक्रमण किया तो देवता आकाश में अपने विमानों पर बैठे हुए यह दृश्य देख रहे थे और दुखी भी हो रहे थे कि हाय, श्री राम अकेले और राक्षस चौदह हजार हैं; तथा डर के मारे काँप भी रहे थे। यह भय से काँपना देवताओं का एक विशेष स्वभाव है। ये बड़े जल्दी आतंकित हो जाते हैं।

सुर डरत चौदह सहस प्रेत
बिलोकि एक अवध धनी।३/१९/२७

एक व्यक्ति चौदह हजार को कैसे जीतेगा? भगवान राम ने कैसे जीता? लिखा है कि बाण का प्रयोग करने पर भी इन राक्षसों की मृत्यु नहीं होती।

मारने से तो मरेंगे नहीं। तब भगवान ने क्या किया? उन्होंने अद्वैत तत्त्व का प्रयोग किया और विजय प्राप्त की। यह बड़ी अद्भुत बात है। श्री राम की विजय अद्वैत तत्त्व की विजय है। और इन दैत्यों की पराजय माने इनकी द्वैतमूलक वृत्ति की पराजय। यह द्वैत और अद्वैत का संघर्ष है। इस युद्ध में भगवान राम अचानक बाण चलाना बन्द कर दिया और एक कौतुक किया। समस्त ब्रह्माण्ड ही तो ईश्वर का रूप है। भगवान श्री राघवेन्द्र तो अखण्ड ज्ञान में स्थित हैं ही। उन्होंने समस्त चौदह हजार राक्षसों को राम बना दिया। और यह उनके स्वभाव और स्वरूप के अनुकूल ही है। और तब होता क्या है? प्रत्येक राक्षस अपने सामने राम को देखता है और उस पर प्रहार करता है। इस तरह चौदह हजार राक्षस आपस में लड़कर स्वयं ही समाप्त हो गये। यही द्वैत बुद्धि की परिणति है। यदि वे चौदह हजार राक्षस सामने राम को देखने के साथ ही अपनी ओर भी देखने की चेष्टा करते तो उन्हें यही दिखाई देता कि सामने जो राम है वही राम मैं भी हूँ, आगे-पीछे, आजू-बाजू चारों ओर राम और मैं भी राम, फिर तो सारा झगड़ा ही मिट जाता। पर वे तो अपनी ओर देखने के अभ्यस्त हो नहीं हैं, उसका तो नाम ही है दूषण, वासना की वृत्ति वाले, दूसरों का दोष देखने वाले, अपना दोष नहीं देखते।

आप कह सकते हैं कि भगवान श्री राघवेन्द्र ने भी तो आखिर अद्वैत का प्रयोग लड़ाने के लिए ही किया। तो इस पर गोस्वामी जी कहते हैं—नहीं नहीं, इसका परिणाम तो देखिए कितना अच्छा निकला? राक्षस भले ही एक दूसरे को राम समझकर लड़ने लगे पर श्री राम तो अद्वैत में स्थित हैं। कदाचित यही वृत्ति उनमें आ जाती तो वे श्री राम से प्रेम करने लगते और भक्त हो जाते; पर अगर प्यार नहीं किया, लड़ गये, मर गये तो भी कोई घाटे में नहीं रहे। उसका फल भी उन्हें वही मिला जो अद्वैत ज्ञान से मिलता है। क्या?

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।३/२०

वे सब राम को मारते हुए, राम को देखते हुए, राम कहते हुए मर रहे हैं, और भगवान उन्हें अपने में समेटकर ममत्व में एकाकार किए जा रहे हैं।

भगवान श्री राघवेन्द्र की विजय हुई। लक्ष्मण जी श्री सीताजी को लेकर आते हैं। काम, क्रोध, लोभ की पराजय हो गयी है। ज्ञान-भक्ति-वैराग्य पुनः एकत्र हो गये। इन चौदह हजार राक्षसों सहित खर-दूषण के विनाश के बाद, समस्त दुर्गुणों एवं दुर्विचारों के दूर हो जाने के बाद, ज्ञान-भक्ति-वैराग्य पुनः प्रतिष्ठित हुए; पर क्या इससे समस्या का समूल नाश हो गया? गोस्वामी जी

कहते हैं—नहीं। खर-दूषण तो उस रोगवृक्ष की केवल शाखा-प्रशाखाएँ थे। और उसकी जड़ कहाँ है? सारी समस्याओं का मूल क्या है?

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ७/१२०/२८

—मोह ही इन समस्त रोगों की जड़ है। और इसीलिए खर-दूषण के मर जाने पर सूर्पणखा दिखाई तो नहीं देती पर वह जाती नहीं है। सद्विचारों के उदय होने पर वासना दिखाई नहीं देती पर वह मरती नहीं, बल्कि अन्तःकरण के किसी कोने में छिपी रहती है और दबे पाँव पहुँच जाती है मूल में अर्थात् मोह के पास। सूर्पणखा रावण के पास जाती है। और तब रावण क्या करता है? यहाँ भी वही क्रम दिखाई देगा। रावण स्वर्णमृग लेकर जाता है। यह स्वर्णमृग क्या है? इसे हम क्रमशः ज्ञान, भक्ति और कर्म के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करेंगे। यह मृग नकली है। मारीच स्वर्णमृग बना हुआ है। यह मारीच तीन चीजों की सृष्टि करता है। ज्ञान की दृष्टि से मार्ग में सबसे बड़ी बाधा भ्रम है, भक्ति की दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा है संशय और कर्म की दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा है प्रलोभन। ज्ञान के सन्दर्भ में यह मारीच भ्रम है, मायामृग है। माया भ्रम की सृष्टि कर देती है, अवास्तविकता में वास्तविकता की स्वीकृति या प्रतीति करा देती है। सूर्पणखा ने भी माया का प्रयोग किया था। नकली रूप बनाकर गयी थी। पर वहाँ भगवान राम ने यह दिखा दिया कि किस तरह से इस माया से, भ्रम से बचा जा सकता है। और यहाँ पर वे इसका दूसरा पक्ष भी हमारे सामने रख दे रहे हैं कि व्यक्ति अगर जरा भी असावधान रहे तो किस प्रकार वह भ्रम के द्वारा माया के जाल में फँस जाता है। यहाँ भगवान राम ने मारीच की माया को स्वीकार कर लिया। आज सारा क्रम उलट गया है। जब सूर्पणखा की माया आई तो भगवान ने भक्ति की ओर देखा, माया के मिथ्यात्व को देखा ही नहीं। पर आज तो श्री सीता जी ने ही उस माया मृग को देख लिया। और देखा ही नहीं बल्कि भगवान से कहने लगीं—

सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुन्दर छाला॥
सत्यसंध प्रभु बधि करि एही।
आनहु चर्म कहति बैदेही॥
तब रघुपति जानत सब कारन।
उठे हरषि सुर काज सँवारन॥ ३/२६/४-६

—इस मृग का चर्म बड़ा सुन्दर है, मारकर इसकी छाल ले आइए। और भगवान ने उस भ्रम को स्वीकार कर लिया। वे धनुष-बाण लेकर उस मायामृग के पीछे, भ्रान्ति के पीछे चल पड़े। ज्ञान संकट में कब पड़ता है? जब माया और भ्रान्ति के पीछे भागता है, अवास्तविकता के पीछे भागता है। इसीलिए आगे चलकर भगवान् राम की आँखों में आँसू दिखाई देते हैं। उनका विलाप दिखाई दे रहा है। और भक्ति संकट में क्यों पड़ गई? भक्ति की दृष्टि से देखें तो यह स्वर्णमृग संशय की सृष्टि करनेवाला है। भगवान् राम जब इस मृग पर प्रहार करते हैं तब वह लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारता है और उसका वह स्वर सुनकर सीता जी को यह भ्रम हो जाता है कि यह भगवान् राम का स्वर है। और उसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने लक्ष्मण जी से कहा—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। ३/२७/३

ईश्वर के बल के प्रति संशय उत्पन्न हो गया। लक्ष्मण के चरित्र के प्रति संशय उत्पन्न हो गया। मृग ने भ्रम उत्पन्न किया तो ज्ञान दूर चला गया और संशय उत्पन्न किया तो भक्ति की वृत्ति विपरीत हो गयी। और आगे चलकर श्री सीता जी ने लक्ष्मण जी से ऐसे शब्द कह दिये कि लक्ष्मण जी व्याकुल हो गये—

मरम बचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥ ३/२७/५

और तब सीता जी को छोड़कर लक्ष्मण जी दूर चले जाते हैं, वैराग्य दूर चला जाता है। वैराग्य कहाँ चला जाता है? जहाँ ज्ञान भ्रम के पीछे, प्रलोभन के पीछे भाग गया है, वहाँ। परिणाम क्या हुआ? तीनों ही संकट में पड़ गये।

अब इस संकट से उन्हें उबारता कौन है? तो यहाँ पर संकट से उबारने वाले हनुमान जी की भूमिका आती है। हनुमान जी कौन हैं?

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय। (विनय पत्रिका)

हनुमान जी प्रबल वैराग्य हैं। एक ओर तो वैराग्य लक्ष्मण जी के रूप में जीवन से दूर चला गया और ज्ञान-भक्ति संकट में पड़ गये। दूसरी ओर इस ज्ञान-भक्ति के दुःख को दूर करने की भूमिका वैराग्य के द्वारा ही पूर्ण होती है। भगवान् राम सबसे अधिक प्रशंसा हनुमान जी की करते हैं, इसका अभिप्राय क्या है? हनुमान जी जब लंका से लौटकर आये और भगवान् राम ने जाम्बवान से पूरा विवरण सुना कि हनुमान जी ने लंका में क्या-क्या कार्य किया तो उनकी आँखों में प्रेम के आँसू आ गये और उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥ ५/३१/५

—हनुमान, तुम्हारे समान उपकार करनेवाला न कोई देवता है, न कोई नर और न ही कोई मुनि। आज तक विश्व के इतिहास में तुम्हारे समान उपकारी और कोई हुआ ही नहीं। तो हनुमान जी की भूमिका क्या है? वे ज्ञान के संकट को दूर करनेवाले, भक्ति के संकट को दूर करनेवाले और इन बिछुड़े हुए सबको मिलानेवाले हैं। जिन दुर्गुणों-दुर्विचारों के कारण ज्ञान-भक्ति-वैराग्य साथ रहते हुए भी अलग-अलग दिखाई दे रहे हैं, सीता जी दूर चली गई हैं, भगवान् राम विलाप करते हुए वन में चारों ओर भटक रहे हैं और लक्ष्मण जी साथ होते हुए भी भगवान् राम को सान्त्वना नहीं दे पा रहे हैं, अब उन कारणों को दूर करते हैं हनुमान जी।

ज्ञान के सामने समस्या है स्वरूप विस्मृति का और भक्ति के सामने संशय का। और इसके निराकरण की भूमिका है हनुमान जी की। भगवान् ने हनुमान जी को काम सौंपा कि जाकर सीता जी को मेरा सन्देश सुनाओ। हनुमान जी ने लंका में जाकर क्या किया? जिस संशय के कारण भक्ति भगवान् से दूर हो गयी थी, उस संशय को हनुमान जी ने भगवान् की कथा के दिव्य औषधि के द्वारा दूर किया। रामकथा के विषय में गोस्वामी जी ने बताया कि इसके अनेक रूप हैं और उनमें से एक रूप वैद्य का भी है—

सद्गुर ग्यान बिराग जोग के।
बिबुध बैद भव भीम रोग के॥ १/३१/३

—"भगवान् की कथा ज्ञान, वैराग्य और योग के लिए सद्गुरु है, और संसार-रूपी भयंकर रोग का नाश करने के लिये देवताओं के वैद्य (अश्विनीकुमार) के समान हैं।" तो हनुमान जी ने भगवान् की यह सुन्दर कथा श्री सीता जी को सुनाया जो स्वयं वैद्य भी हैं और ओषधि भी। कथा सुनकर पहले तो माँ के हृदय का दुःख दूर हो गया, शांति की अनुभूति हुई और अन्त में उनके मन में जो संशय था, वह दूर हो गया।

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ ५/१२/५

और उनके पश्चात् सीता जी के मुख से निकला—

श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई।
कही सो प्रगट होति किन भाई॥ ५/१२/७

—"किसने इतनी मधुर कथा सुनाई, वह सामने क्यों नहीं आता।" और तब हनुमान जी वृक्ष से कूद पड़े। माँ ने जब देखा तो "फिर बैठीं"—तुरन्त पीठ

फेर लिया। हनुमान जी की ओर देखना भी पसन्द नहीं किया और कह दिया—

नर बानरहि संग कहु कैसे।
कही कथा भइ संगति जैसे॥ ५/१२/११

कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिन्धु कर दास॥ ५/१३

—पहले कथा पर विश्वास, पर कथावाचक पर अविश्वास हो गया था। और अब कथावाचक पर विश्वास हुआ तब अचानक प्रभु के स्वभाव पर सन्देह हो गया। वे हनुमान जी से कहने लगीं—

कोमल चित कृपालु रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥ ५/१३/४

—"हमारे प्रभु तो पहले बड़े कोमल स्वभाव के थे, अब इतने कठोर कैसे हो गये।" भक्ति सुरक्षित कब रहेगी? भक्ति तो हम तभी कर पाएँगे जब हमें भगवान् में कोमलता दिखाई देगी। यदि हमें भगवान् में कठोरता दिखाई देने लगे तो उनके प्रति राग और प्रीति हो ही नहीं सकती, तो हनुमान जी ने कहा कि माँ क्षमा करना, मैं धृष्टता कर रहा हूँ, आप तो प्रभु से प्रेम करती हैं न! बोलीं—हाँ करती हूँ। तो हनुमान जी ने कहा—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम्ह तें प्रेम राम कें दूना॥ ५/१३/१०

—"बस माँ, आप उनसे जितना प्रेम करती हैं, उससे दूना प्रेम वे आपसे करते हैं।" यह सुनकर श्री सीता जी को भगवान् के स्वभाव के प्रति विश्वास तो हो गया, पर उन्होंने एक बहुत सुन्दर प्रश्न किया। ज्ञान के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात है, स्वरूप की स्मृति। इसलिए उन्होंने हनुमान जी से पूछा कि हनुमान, प्रभु तो अनन्त ऐश्वर्यशाली हैं, अनन्त शक्तिशाली हैं, अनन्त सामर्थ्यवान हैं। तो फिर वे रावण को मारकर मुझे ले क्यों नहीं जाते? तो स्वभाव में तो कोई बदलाव नहीं आया पर प्रभाव में तो कुछ-न-कुछ कमी आ गई न? क्या पहले जैसी सर्वसमर्थता अब उनमें नहीं रह गयी? तब हनुमान जी ने देखा कि स्वभाव का संकट मिटा तो अब प्रभाव पर संकट आ पड़ा। उन्होंने तुरन्त माँ से कहा कि प्रभाव भी ज्यों-का-त्यों है, पर प्रभु के सामने एक समस्या है—

तुव बियोग-संभव दारुन दुख।
बिसरि गई महिमा सुबान की॥ गीतावली ५/११

—आपके वियोगजन्य दुःख में वे इतने डूब गये हैं कि उन्हें अपने बाण की

महिमा का स्मरण नहीं रहा। प्रभाव है पर प्रभाव की याद नहीं है। यहाँ पर गोस्वामी जी ने बड़ी दार्शनिक बात कही कि स्मृति में ही सुख है। कोई व्यक्ति चाहे वह कोई भी क्यों न हो, अपने स्वरूप की स्मृति न रहने पर समग्र रूप से सुखी नहीं हो सकता। तो माँ ने कहा बस, अब तुम्हें क्या करना है यह मैं बता देती हूँ। तुम जाकर—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥ ५/२६/५

—"जाकर उन्हें जयन्त की कथा सुनाना और उन्हें स्मरण दिलाना कि उनकी बाणों में कितना सामर्थ्य है।" हनुमान जी जब भगवान् के बाणों की महिमा बखान कर रहे थे—

राम बान रबि उएँ जानकी।
तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥ ५/१५/२

—"हे जानकी जी, रामबाण रूपी सूर्य का उदय होने पर, राक्षसों की सेना रूपी अन्धकार कहाँ रह सकता है?" तब माँ बोली, "मुझे क्या सुना रहे हो, उन्हें सुनाना। मैं सुनकर क्या करूँगी? मैं तो जब प्रत्यक्ष देखूँगी, तभी मानूँगी।"

हनुमान जी के लंका से लौट आने के बाद उनसे सीता जी का दुःख सुनकर भगवान् राम रोने लगे। यह स्वरूप की विस्मृति है। हनुमान जी भगवान् के आँखों में आँसू देखकर तुरन्त उन्हें स्वरूप की स्मृति दिलाते हुए बोले—

केतिक बात प्रभु जातुधान की।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी ॥ ५/३१/४

—महाराज, इन राक्षसों को नष्ट करना क्या आपके लिए कोई कठिन कार्य है? जब आप निश्चय कर लेंगे तो क्या इन राक्षसों को नष्ट करने में कोई विलम्ब होगा? भगवान् राम को अपने स्वरूप की स्मृति आयी और प्रभु ने तुरन्त सुग्रीव से कहा—

अब बिलम्बु केहि कारन कीजे।
तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजे ॥ ५/३३/७

इस प्रकार हनुमान जी ने एक ओर भक्ति का संशय दूर करके उन्हें विश्वास प्रदान किया और ज्ञान को स्वरूप की स्मृति दिलाई। केवल वैराग्य ही संकट से बच गए थे, पर लंका के रणांगण में वे भी संकट में पड़ गये। मेघनाद ने लक्ष्मण जी को मूर्छित कर दिया था। यह मेघनाद है काम। काम

को गोस्वामी जी वात कहते हैं। अध्यात्मिक सन्दर्भ में रावण की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार।
पाकारिजित काम विश्रामहारी। विनयपत्रिका ५८

इस लंका में मोहरूपी रावण, अहंकाररूपी उसका भाई कुम्भकर्ण और शान्ति को नष्ट करनेवाला कामरूपी मेघनाद है।

मेघनाद के द्वारा लक्ष्मण का मूर्छित हो जाना मानो काम और वैराग्य के संघर्ष में वैराग्य का मूर्छित हो जाना है। पर वैराग्य काम के वशीभूत नहीं हुआ, इस बात को गोस्वामी जी ने बड़े सुन्दर ढंग से रखा। लक्ष्मण जी जब गिर पड़े तो मेघनाद बड़ा प्रसन्न हुआ कि मैं जीत गया और सोचा कि इनको उठाकर ले चलूँ, रावण के चरणों में भेंट कर दूँ और कहूँ कि लो, जिस लक्ष्मण पर राम को इतना अधिक भरोसा था, वह आपके चरणों में है। लेकिन जब वह लक्ष्मण को उठाने की चेष्टा करता है तो इसमें असमर्थ हो जाता है और इसका तात्पर्य क्या है? यह कि लक्ष्मण के रूप में वैराग्य भले ही मूर्छित हो गये हों, पर मूर्छित होकर भी वे मोह के चरण में जाने वाले नहीं, वे तो भगवान् की ही गोद में जाने वाले हैं। उनके मूर्छित होने का अभिप्राय यही है कि उस समय वैराग्य सक्रिय नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह काम के वशीभूत हो गया हो। वशीभूत हो जाने का तात्पर्य तो यह है कि काम उसे जैसा चाहे नचावे, पर ऐसा होता नहीं। काम चेष्टा करने पर भी उसे उठा तक नहीं पाता। तब लक्ष्मण जी को उठाकर भगवान् के पास लाया कौन?

यह कार्य हनुमान जी का है। यहाँ वैराग्य की दोहरी भूमिका है। एक लक्ष्मण जी हैं जो लीलाभूमि पर मूर्छित हैं और दूसरे हैं हनुमान जी जो साधना भूमि पर वैराग्य की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। "प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय"—हनुमान जी प्रबल वैराग्य हैं। हनुमान जी ने लक्ष्मण जी को उठा लिया—वैराग्य ने वैराग्य को उठा लिया।

लंका का युद्ध समाप्त हो जाने के बाद श्री राघवेन्द्र ने लक्ष्मण जी से पूछा—"अयोध्या से लेकर लंका तक तुमने बहुत लम्बी यात्रा की। इस सारी यात्रा में तुम्हें सबसे अधिक आनन्द कब आया?" लक्ष्मण जी ने कहा—"महाराज, जागते हुए तो मैंने बहुत-सी यात्रा की। पर सोये-सोये जो यात्रा हुई उसमें ही सबसे अधिक आनन्द आया।"—कब? जब सन्त ने अपनी गोद में उठाकर मुझे आपकी गोद तक पहुँचा दिया तब। भगवान और सन्त का सम्बन्ध यही है। हनुमान जी लक्ष्मण जी को अपनी गोद में उठाकर ले गये

और भगवान की गोद में रख दिया। लक्ष्मण जी बोले—"महाराज, कैसी विलक्षण थी वह यात्रा! एक पग भी नहीं चलना पड़ा और आपकी गोद में आ गया तब मुझे एक नया सुख मिला। शेष के रूप में आपको अपनी गोद में सुलाने का सुख तो मिला था, पर आपकी गोद में सोने का जो सुख है, वह तो मुझे हनुमान जी की कृपा से ही मिला।" और इसके आगे भी औषधि लाने तथा लक्ष्मण जी को चैतन्य करने की सारी भूमिका हनुमान जी सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार से ज्ञान-भक्ति और वैराग्य के संकट का निराकरण हनुमान जी के द्वारा होता है। और यहाँ जो भूमिका हनुमान जी की है वही अयोध्या में श्री भरत की है। इसलिए भरत जी ने गुरु वशिष्ठ से कहा कि जब समाज काम, क्रोध, लोभ से ग्रस्त हो जाय उस समय क्या यह उचित होगा कि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ? समाज में काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों को खुली छूट देकर क्या उन्हें शान्त किया जा सकता है? कैकेयी के इस लोभ और क्रोध को स्वीकार कर यदि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ तो क्या समाज की इस समस्या का समाधान हो जाएगा। यदि मैं अपने जीवन में उन दोषों को स्वीकार कर लूँ, तो क्या अयोध्या के लोग स्वस्थ हो जायँगे? गुरु वशिष्ठ ने पूछा—अयोध्या के लोगों के स्वस्थ होने का उपाय क्या है? तो उन्होंने यही कहा कि जिनके जाने से यह संकट आया हुआ है, उन्हें ही लौटा लाने की चेष्टा की जाय। इसका सीधा-सा अभिप्राय यह है कि काम-क्रोध-लोभ जीवन में आये तो ज्ञान-भक्ति-वैराग्य जीवन से दूर हो गये। अतः जीवन में यदि ज्ञान-भक्ति-वैराग्य फिर से प्रतिष्ठित हो जाएँ, तो स्वस्थता आ जाएगी। श्री भरत ने यही उपाय बताया—

प्रातःकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं। २/१८२/२

—पुनः उन्हें ही लौटा लाना होगा। ज्ञान-भक्ति-वैराग्य को लौटा लाने की चेष्टा करो। काम-क्रोध-लोभ के स्थान पर ज्ञान-भक्ति-वैराग्य की पुनः प्रतिष्ठा के लिए श्री भरत जी समाज को लेकर भगवान श्री राघवेन्द्र के पास जाते हैं। भगवान श्री राघवेन्द्र ने मुस्कराकर श्री भरत को लौटा दिया। कह दिया कि नहीं भरत, इस समय मेरी भूमिका से काम नहीं चलेगा। यह भूमिका तो अकेले तुम्हें ही पूरी करनी है। क्यों? इसलिए कि हम तीनों के रहते हुए भी काम-क्रोध-लोभ आ गया तो इसका अर्थ तो यही है कि अब मुझसे भी बड़ा कोई चिकित्सक चाहिए। तो यह कार्य अब तुम्हारा है। और तब श्री भरत क्या करते हैं? अपने चरित्र के द्वारा काम-क्रोध-लोभ को नष्ट कर उस पर विजय प्राप्त करते हैं। राज्य नहीं लेते, यह उनकी लोभ पर विजय है। मन्थरा को दण्ड से मुक्त कर देते हैं, यह उनकी क्रोध पर विजय है और नन्दी ग्राम में

तपस्या करते हैं यह उनकी काम पर विजय है। स्वयं श्री भरत तो स्वस्थ हैं ही, पर अयोध्या का सारा दुःख-संकट इस काम-क्रोध-लोभ के कारण ही है। और इन पंक्तियों में गोस्वामी जी कह देते हैं—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध, पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥७/१२०/३१

—जब जीवन में दुःख आवे तो समझ लेना चाहिए कि काम-क्रोध-लोभ—इनमें से कोई-न-कोई दुर्गुण आ गया है। इन दुर्गुणों और दोषों पर विजय प्राप्त करके ही हम दुःखों से छुटकारा पाते हैं।

□□

प्रवचन-६

रामचरितमानस की कथा के समापन में मानस रोगों का स्वरूप बताते हुए काकभुसुण्डि जी ने आयुर्वेद में दी गयी स्वस्थता और, अस्वस्थता की परिभाषा को ही आधार बनाकर व्यक्ति और समाज के स्वस्थता के स्वरूप को प्रकट किया है। आयुर्वेद में त्रिधातु की स्वीकृति है और वे हैं—कफ, वात और पित्त। काकभुसुण्डि जी कहते हैं कि व्यक्ति के मन में भी ये त्रिधातु विद्यमान हैं। काम, क्रोध और लोभ की वृत्तियाँ ही मन का वात, पित्त और कफ हैं। जब व्यक्ति या समाज के जीवन में ये वृत्तियाँ संतुलित रहती हैं, तभी वह स्वस्थ रहता है। जब काम के द्वारा केवल सृजन का लक्ष्य सामने रखा जाता है, क्रोध के द्वारा बुराइयों को मिटाने का लक्ष्य रहता है और लोभ के द्वारा लोकसेवा के लिए धनसंग्रह का लक्ष्य होता है, तभी काम, क्रोध और लोभ समाज में सार्थक होते हैं। लेकिन प्रायः ऐसा रह नहीं पाता। कभी कोई एक वृत्ति प्रबल हो जाती है तो कभी कोई दूसरी वृत्ति। जिस युग में लोभ की प्रधानता हो जाती है, उसके समाज में अर्थ को बड़ा महत्व प्राप्त हो जाता है। इसी तरह यदि किसी देश-काल में काम की वृत्ति प्रबल हो जाती है, तब वहाँ भोग ही जीवन का प्रधान लक्ष्य बन जाता है। और कभी किसी समाज में क्रोध की वृत्ति प्रबल हो जाने पर व्यक्ति और समाज में क्रोध की तीव्रतम प्रतिक्रिया हिंसा के रूप में परिलक्षित होने लगती है। इसमें एक क्रम है। जैसे किसी व्यक्ति को ज्वर हो जाता है, तो वैद्य नाड़ी से यह निर्णय करता है कि इसको किस प्रकार का ज्वर है। ज्वर का बहिरंग लक्षण मिलता-जुलता हो तो भी उसके मूल कारण अलग-अलग हो सकते हैं। वैद्य ही नाड़ी-परीक्षण के द्वारा यह निर्णय करता है कि ज्वर का मूल कारण किसकी विकृति है—वात की, पित्त की या कफ की। इसी प्रकार जब व्यक्ति और समाज अस्वस्थ हो जाते हैं, तब उसकी चिकित्सा करने को महापुरुष आते हैं। तो यह रोग और औषधि का संघर्ष सदा-सर्वदा चलता रहता है। अभी कुछ दिन पूर्व कानपुर में 'मानस-संगम' के तत्त्वावधान में रामकथा का आयोजन किया गया था। वहाँ अनेक विचारक और विद्वान् वक्ता एकत्र हुए थे। उन लोगों ने विविध रूपों में अपनी बातें रखीं। पर उनमें से कइयों का एक स्वर बड़ा ही मुखर था और वह यह कि समाज में जो इतनी अशान्ति, अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार व्याप्त है, तो ऐसी स्थिति में इन आयोजनों की क्या सार्थकता है? क्या सचमुच इन

आयोजनों से कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा है? इस सन्दर्भ में तो हम यही कहेंगे कि चिकित्सा की अधिकता इसी बात की द्योतक है कि समाज में रोग अत्यधिक व्याप्त है। रोग की व्यापकता के कारण अगर अनेक चिकित्सकों की आवश्यकता हो जाय तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। और ऐसा कभी नहीं हो सकता कि व्यक्ति या समाज मानसिक रोगों से सदा के लिए पूर्णतया मुक्त हो जाय। किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक समस्या समाज में सदा ही विद्यमान रहती है और उसकी चिकित्सा भी की जाती है, उसे मिटाने की चेष्टा की जाती है। कभी-कभी जब समाज में भोगवाद की प्रबलता होती है तो कोई महापुरुष आकर त्याग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लोगों के मन में काम के प्रति उपेक्षा उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। तप को महत्त्व देते हैं। भोग की निन्दा करते हुए जीवन में काम की वृत्ति को सन्तुलित करने की चेष्टा की जाती है। इसी तरह कभी क्रोध की और कभी लोभ की वृत्ति भी असन्तुलित हो जाती है। कभी-कभी तो यह असन्तुलन मन के साथ मनुष्य के बुद्धि, अहंकार और चित्त तक को आक्रान्त कर देता है। गोस्वामी जी इसे अस्वस्थता का गम्भीर लक्षण मानते हैं। वे कहते हैं कि रोग अगर किसी एक अंग में हो या अन्तः-करण के किसी एक भाग में हो तो उसकी चिकित्सा करना सरल है, पर जब मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, चारों ही रोगग्रस्त हो जाएं अथवा समाज समग्र रूप से रोगग्रस्त हो जाय तो उसकी चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यह बात तो हमें अपने जीवन में भी दिखायी देता है। कई बार जब हमारा मन अस्वस्थ हो जाता है, तो भी बुद्धि स्वस्थ रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि जब मन में जब कोई बुराई आती है तो बुद्धि तुरन्त कह देती है कि यह अशोभनीय है, त्याज्य है। मन पर बुद्धि का नियंत्रण बना रहता है। इसी प्रकार बहिरंग व्यवहार में मानसिक और भौतिक धरातल पर व्यस्त हो जाने पर भी हमारा चित्त एकान्त में समाहित एवं शान्त हो जाय, तो मन की बुराइयों को वहाँ प्रश्रय नहीं मिलता। और व्यक्ति जब विनम्र हो जाता है तब मन की बुराइयों को अहं का समर्थन नहीं मिल पाता। इसी तरह कभी मन, कभी बुद्धि, कभी चित्त और कभी अहंकार अस्वस्थ हो जाते हैं, पर अन्तःकरण-चतुष्टय में से किसी एक के अस्वस्थ हो जाने पर शेष तीन स्वस्थ रहते हैं और समस्या गम्भीर नहीं हो पाती। समस्या तो तब जटिल हो जाती है जब अन्तःकरण समग्र रूप से अस्वस्थ हो जाता है। तब उस व्यक्ति की चिकित्सा अत्यन्त कठिन हो जाती है। यहाँ पर सन्निपात के संदर्भ में इसी स्थिति का वर्णन किया गया है।

आयुर्वेद में कहा गया है कि व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ

में से कोई एक कुपित हो जाय तो उसकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल होती है लेकिन तीनों यदि एक साथ कुपित हो जायं तो उसकी चिकित्सा करना सहज नहीं है। इसी प्रकार जब व्यक्ति के जीवन में काम, क्रोध और लोभ, तीनों वृत्तियाँ एक साथ विकृत हो जायँ, तब समस्या जटिल हो जाती है। रामचरित-मानस में इसका सुन्दर दृष्टान्त है। परशुराम जी को हम अवतार मानते हैं। उनका अवतार क्यों हुआ? उनके होते हुए समाज को श्री राम की आवश्यकता क्यों हुई? इसका उत्तर यह दिया गया है कि परशुराम जी ने समाज की एक समस्या का समाधान दिया, पर उसकी प्रतिक्रिया अपने आप में एक समस्या बन गई। उन्होंने सहस्रार्जुन के एक हजार भुजाओं को काट दिया और क्षत्रियों को दण्ड दिया। सहस्रार्जुन को दमन करने से क्या अभिप्राय है? सहस्रार्जुन लोभ का प्रतीक है। उसके चरित्र का वर्णन इस प्रकार मिलता है—सहस्रार्जुन एक योग्य राजा था। वह बड़ा पुरुषार्थी था और बड़ी कुशलता से समाज का संचालन करता था। उसकी एक हजार भुजाएँ थीं और उनमें कर्म करने की अद्भुत क्षमता थी। ऐसी क्षमता यदि किसी व्यक्ति को प्राप्त हो जाय तो वह कल्याणकारी भी हो सकता है और अकल्याणकारी भी। और ये दोनों ही पक्ष हमें सहस्रार्जुन के जीवन में दिखाई देते हैं। हजार भुजाओं से अद्भुत कर्म करने की क्षमता का उपयोग यदि व्यक्ति दूसरों की सेवा, परोपकार और रक्षा करने के लिए करे तो वह कल्याणकारी हो सकता है। जैसा कि सहस्रार्जुन के जीवन में पहले था। लेकिन इस कार्यक्षमता के साथ अगर लोभ जुड़ जाय और वह बढ़कर अपार और असन्तुलित हो जाय तो वह अकल्याणकारी हो जाता है। और कर्म के साथ इसकी सम्भावना जुड़ी रहती है। कर्म करने की प्रेरणा जितनी ही तीव्र होगी, आकांक्षाएँ भी उतनी ही तीव्र होंगी। साथ में स्वार्थपरता और लोभ की वृत्ति भी रहती है। सहस्रार्जुन के साथ भी यही हुआ। और केवल सहस्रार्जुन ही क्यों, सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति में यह वृत्ति आ गयी। इसके परिणाम-स्वरूप राजाओं में यह रोग फैल गया कि अधिक-से-अधिक देशों पर अधिकार करके मनमाने ढंग से प्रजा का शोषण करो और केवल अपने ही श्री, वैभव तथा भोग की चिन्ता करो।

यहाँ पर एक बड़ा सुन्दर संकेत मिलता है। एक बार रावण और सहस्रार्जुन के बीच भी टकराहट हो गई। लेकिन रावण सहस्रार्जुन को नहीं जीत पाया। जीत भी नहीं सकता था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सहस्रार्जुन जैसे लोभ का प्रतीक है, रावण मोह का प्रतीक है।

मोहदशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी।
विनय पत्रिका ५८

अभिप्राय यह है कि लोभ और मोह की वृत्तियों में टकराहट होने पर बड़ी विचित्र बात है कि मोह लोभ से परास्त हो गया। लोभ की एक विचित्र विशेषता है। यद्यपि ये तीनों (काम, क्रोध, लोभ) मन के रोग कहे जाते हैं। पर अगर अन्तःकरण की दृष्टि से अलग-अलग बाँटकर कहें तो काम मनः-प्रधान है। लोभ से बुद्धि जुड़ी हुई है और क्रोध से अहंकार संयुक्त है। अगर ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि व्यक्ति के अन्तःकरण में जब काम की वृत्ति आती है तो वह सब से पहले उसके मन को आक्रान्त करती है। मन जब भोग के लिए व्याकुल होने लगता है, तब इसी भोग पिपासा को मिटाने के लिए वह काम का आश्रय लेता है। और लोभ? लोभ जब आता है तो उसे स्थान देती है बुद्धि। बुद्धि उसका समर्थन करती है। लोभ दिखायी तो देता है मन में, पर बुद्धि उसके समर्थन में बड़े जोर-शोर से तर्क देती है। व्यक्ति लोभ क्यों करता है? बुद्धि कहती है, "बुढ़ापे में क्या करोगे? परिवार की वृद्धि होगी, तब क्या होगा?" भविष्य की चिन्ता करना तो एक सजग व्यक्ति का कर्तव्य है। बुद्धि व्यक्ति के सामने भविष्य की चिन्ता खड़ी कर देती है। व्यक्ति सोचता है कि इतना संग्रह कर लें कि जिससे भविष्य में निश्चिन्त होकर रह सकें। इस तरह लोभ की वृत्ति में बुद्धि की सक्रियता दिखायी देती है। क्रोध अहंप्रधान है। अहं जितना तीव्र होगा, क्रोध भी उतना ही तीव्र होगा। सामनेवाला व्यक्ति मेरी बात क्यों नहीं सुनता, मेरी बात क्यों नहीं मानता, मेरी बात क्यों टालता रहता है? इसी बात को लेकर क्रोध आ जाता है। चित्त इन तीनों के पीछे है। मन, बुद्धि और अहंकार में से अगर कोई एक अस्वस्थ हो और अन्य स्वस्थ, तो चिकित्सा करना सरल है। पर मन के साथ यदि बुद्धि और अहंकार भी अस्वस्थ हों और पीछे से चित्त भी संस्कार के रूप में उन्हें शक्ति देता रहे, तो उस व्यक्ति की चिकित्सा करना बड़ा कठिन हो जाता है।

सहस्रार्जुन ने रावण को परास्त कर दिया, पर उसके बाद भी समस्या बनी हुई है। बुद्धि ने मोह को पराजित कर दिया, पर स्वयं दुर्गुणों से मुक्त नहीं हो सकी है। यद्यपि मोह की वृत्ति सहस्रार्जुन के जीवन में प्रबल नहीं है, पर लोभ की वृत्ति अत्यन्त प्रबल हो गयी है। ऐसा वर्णन आता है कि पहले वह धर्मपूर्वक पृथ्वी पर शासन करता था। वह बड़ा पराक्रमी था। एक बार वह वन में मृगया खेलने गया। वहाँ पर उसके मन में आया कि जब यहाँ तक

आ ही गये हैं तो थोड़ी दूर और चलकर महात्मा जमदग्नि को प्रणाम भी कर लें। लगता है कि यह भी उसके जीवन की सात्विक वृत्ति थी। रावण की तरह वह सद्वृत्तियों से शून्य नहीं था। पर उसमें एक दोष प्रबल हो गया था। रावण और सहस्रार्जुन के जीवन की अगर तुलना करें तो दीख पड़ेगा कि जहाँ मुनियों के आश्रमों को विनष्ट करने में रावण को आनन्द अनुभव होता था, वहाँ सहस्रार्जुन के जीवन में मुनियों के प्रति आदर की वृत्ति थी, जिससे प्रेरित होकर वह जमदग्नि के आश्रम में जाता है। यहाँ पर उसकी बुद्धि स्वस्थ और अनुकूल दिखाई देती है। जब वह जमदग्नि के आश्रम में पहुँचा तो जमदग्नि ने उसका स्वागत और सम्मान किया, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। मननशील त्यागी महात्मा और सत्ताधीश एक-दूसरे के सहायक हो सकते हैं। शासक मुनियों के समक्ष विनत होकर उनसे प्रेरणा ले सकते हैं और सत्ताधीश मुनियों को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। दैत्यों और राक्षसों से मुनियों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। यह एक स्वाभाविक क्रम है कि दोनों एक-दूसरे को महत्व दें। और वही यहाँ पर हुआ। पर आगे चलकर सहस्रार्जुन के जीवन में इसकी प्रतिक्रिया बड़ी प्रतिकूल हुई। राजा का स्वागत करने जब जमदग्नि बढ़े तो यह सोचते हुए कि स्वागत आश्रम की परम्परा के अनुसार की जाय अथवा राजसिक परम्परा के अनुकूल? उन्हें यही लगा कि ये तो राजसिक व्यक्ति हैं, इनको आश्रम के कन्द-मूल-फल सम्भवतः सुस्वादु और प्रिय नहीं लगेंगे, इसलिए इनका सत्कार तो राजसिक वैभव से किया जाना चाहिए। और जब दिव्य वैभव के साथ जमदग्नि ने सहस्रार्जुन का स्वागत किया तो सहस्रार्जुन के मन में ईर्ष्या जाग उठी। वैभवशाली व्यक्ति को किसी दूसरे का वैभव देखकर प्रसन्नता नहीं होती। जब वह देखता है कि दूसरे के पास इतना वैभव है, तो उसे यह जानने की इच्छा होती है कि इतना वैभव उसके पास आया कहाँ से! सहस्रार्जुन ने जमदग्नि से पूछ भी लिया, "महाराज, आप तो वन में स्थित एक कुटिया में निवास करते हैं, आपके पास इतना वैभव कहाँ से आया?" जमदग्नि ने भोलेपन से कह दिया, "मेरे पास कामधेनु है। उस कामधेनु से मैं जो माँगता हूँ, वह मुझे देती है। यह सारा वैभव उसी का दिया हुआ है। बस इतना सुनते ही पुरुषार्थी सहस्रार्जुन की वृत्ति बदल गयी। अब तक उसमें किसी वस्तु को पाने के लिए पुरुषार्थ की वृत्ति थी, पर अब कौन-सी वृत्ति आ गई? कामधेनु के प्रति लोभ की। कामधेनु अर्थात् बिना कुछ किये जो चाहें वह मिल जाय। पहले तो व्यक्ति यह सोचता है कि यह करेंगे तब यह मिलेगा। और कामधेनु हो तो करें कुछ नहीं, बैठे-बैठे जो चाहें वह मिल जाय। यह लोभ की पराकाष्ठा है। कुछ न करें और इच्छित वस्तु मिल जाय।

पुरुषार्थी सहस्रार्जुन में अब बिना कुछ किए फल पाने की वृत्ति आ गई। जब तक कामना के साथ कर्म करने की वृत्ति रहती है तब तक लोभ में सन्तुलन बना रहता है, लेकिन जब बिना कुछ किये फल पाने की वृत्ति आती है तब क्या स्थिति होती है, सहस्रार्जुन का चरित्र इसी का चित्र प्रस्तुत करता है। सहस्रार्जुन ने जमदग्नि से कहा, "महाराज, जब आपको कुटिया में रहकर तपस्या का ही जीवन व्यतीत करना है, तो आपके पास इस कामधेनु की क्या उपयोगिता है? इसकी उपयोगिता तो मेरे पास है। मुझे प्रजा का पालन, संरक्षण तथा संचालन करना है, और इसके लिए मुझे कामधेनु से क्षमता प्राप्त हो जाएगी।" जमदग्नि ने उन्हें बता दिया कि कामधेनु मुनि के ही पास रहेगी, राजा के पास नहीं। इसका तात्पर्य क्या है? यह कि जो मुनि है, मननशील है, विचारशील है, उसके जीवन में संकल्प मात्र से आवश्यकता की पूर्ति हो जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो महात्मा है, उसका संकल्प सबके लिए कल्याणकारी ही होगा। उसके संकल्प की पूर्ति में सबका कल्याण ही होगा। पर जिस व्यक्ति के मन में भोगवासनाएँ हैं, उसे कर्मठ होना चाहिए और पुरुषार्थ के द्वारा ही अपनी कामना पूरी करने की चेष्टा करनी चाहिए। कामधेनु एक ओर जहाँ परदुखकातर महात्माओं के पास कल्याणकारी है, वहीं दूसरी ओर भोगपरायण व्यक्ति के पास उतनी ही विनाशकारी भी है। एक ओर सदुपयोग हो सकता है तो दूसरी ओर उसका दुरुपयोग भी सम्भव है। भोगपरायण व्यक्ति संकल्पमात्र से भोग की वस्तुएँ पा लेने की स्थिति में कर्म-शून्य होकर अपरिमित भोग में डूब जायगा। समस्त भोगों को अपने लिए समेटकर वह सदा दूसरों के लिए अमंगल और दुःख-कष्ट की कामना करेगा। इसलिए मुनि ने स्पष्ट कह दिया कि कामधेनु राजा के पास नहीं मुनि के ही पास रहेगी। और तब राजा के उस असन्तुलित लोभ का परिणाम प्रकट हो गया। पहले तो उसे ईर्ष्या हुई, फिर लोभ और अब लोभ की पराकाष्ठा यह है कि बलपूर्वक छीन लेने की चेष्टा होने लगी। सामनेवाला व्यक्ति अगर माँगने पर न दे और लोभ शान्त हो जाय, तब तो वह नियंत्रित लोभ है। लेकिन अगर उस इन्कार से क्रोध आ जाय और बलपूर्वक छीनने का प्रयास आरम्भ हो जाय, तो समझ लेना होगा कि व्यक्ति के मन, बुद्धि एवं अहंकार—तीनों ही लोभ से आक्रान्त हो गये हैं और साथ ही त्रिधातु भी कुपित हो गये हैं। पहले तो कामधेनु को पाने की कामना उत्पन्न हुई, फिर उस पर आधिपत्य की चेष्टा—यह लोभ है। फिर काम तथा लोभ की पूर्ति में बाधा आने पर क्रोध भी आ गया।

संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ गीता २/६

कामना-पूर्ति में बाधा आने पर सहस्रबाहु को क्रोध आ गया। पर यह क्रोध तो परशुराम के जीवन में भी दिखाई देता है, जबकि उनके जीवन में न तो काम की स्वीकृति है, न लोभ की। उन्होंने कभी किसी के राज्य पर अधिकार नहीं किया, विवाह नहीं किया, वे बालब्रह्मचारी हैं। तब तो उनसे पूछा जा सकता है कि आपमें यह क्रोध कैसे आ गया? उन्होंने कहा, "लोक कल्याण के लिए मैंने क्रोध को स्वीकार किया है। मैंने समाज में एक यज्ञ किया और उस यज्ञ में क्रोध को अग्निकुण्ड बनाकर इन अहंकारी राजाओं की आहुति दी है। उनका सिर काटकर क्रोध के अग्निकुण्ड में डाल दिया—

मैं जस बिप्र सुनावहुँ तोही।
चाप स्रुवा सर आहुति जानू॥
कोपु मोर अति घोर कृसानू।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई॥
महा महीप भए पसु आई।
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे॥
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे।
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें॥ १/२८२/१-४

—"मैं तुम्हें बताता हूँ कि मैं कैसा विप्र हूं। धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति और मेरे क्रोध को अत्यन्त भयंकर अग्नि जानो। चतुरंगिणी सेना सुन्दर समिधाएँ हैं। बड़े-बड़े राजा उसमें आकर बलि के पशु हुए हैं, जिनको मैंने इसी फरसे से काटकर बलि दी है। ऐसे करोड़ों जययुक्त रणयज्ञ मैंने किये हैं। तुम्हें मेरा प्रभाव नहीं मालूम।"

यहाँ पर एक व्यंगात्मक प्रसंग आता है। परशुराम जी विश्वामित्र से कहने लगे—"जरा इन लोगों को मेरा इतिहास तो सुनाओ।" लक्ष्मण जी ने कहा—"महाराज, आप हमारे गुरुदेव को क्यों कष्ट दे रहे हैं।

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी।
बार अनेक भाँति बहु बरनी॥
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥ १/२७३/६

"आपने अपने ही मुँह से अपनी करनी अनेकों बार बहुत प्रकार से वर्णन की है। इतने पर भी सन्तोष न हुआ हो तो फिर कुछ और कह डालिए। क्रोध को रोककर असह्य दुःख मत सहिये। आपने स्वयं इतना बता दिया तो बचा क्या जिसे दूसरे बताएँगे? और अगर आपको सन्तोष न हुआ हो तो अपने विषय में कुछ और बताइए।"

परशुराम जी ने लोभ की समस्या को हल करने के लिए क्रोध को स्वीकार किया। क्रोध अहंप्रधान तो होता ही है, अब उनकी बुद्धि भी क्रोध का समर्थन करने लगी। वे तो भगवान् राम से कहते हैं—

बोलसि निदरि बिप्र के भोरें॥ १/२८२/५

—"तू ब्राह्मण के धोखे में मेरा निरादर करके बोल रहा है।" यह अहं की प्रबलता है। भगवान राम ने उन्हें ब्राह्मण कहकर उनका सम्मान ही किया था, अपमान नहीं। लेकिन गोस्वामी जी लिखते हैं—परशुराम जी बिगड़कर भगवान राम से बोले, 'तू ब्राह्मण कहकर मेरा अपमान कर रहा है—बोलसि निदरि बिप्र के भोरें।" इसका अभिप्राय क्या है? ब्राह्मण कहकर भगवान राम ने उनका सम्मान किया कि अपमान? ब्राह्मण जब सभी वर्णों में श्रेष्ठ और पूज्य है, तो ब्राह्मण कहकर पुकारने से उन्हें सम्मान में कमी क्यों लग रही है? इसका रहस्य क्या है? यह कि अहंकार जितना प्रबल होगा, सम्मान की माँग भी उतनी ही तीव्र होगी। जब भगवान राम ने ब्राह्मण कहकर पुकारा तो परशुराम जी को लगा कि ब्राह्मण तो लाखों हैं, इसने मुझे उन्हीं की बराबरी में बिठा दिया। मेरा स्थान तो सबसे ऊँचा होना चाहिए न! सभा-सम्मेलनों में महात्मा लोग एकत्र होते हैं तो भी आसनों को लेकर झगड़े हो जाते हैं। महात्माओं और वक्ताओं में भी परस्पर टकराहट हो जाती है कि मुझे आसन तो मिला लेकिन उससे नीचे मिला, या फिर दूसरे के बराबरी का क्यों नहीं मिला। हमें तो ऊँचा आसन मिलना चाहिए था। परशुराम जी सम्मान में भी अपमान का अनुभव कर रहे हैं। यही अहं की अतिशयता है। अहं जितना ही प्रबल होता जायगा, व्यक्ति उतना ही असन्तुष्ट होता चला जायगा, जितना भी सम्मान दिया जाय वह यही कहेगा कि यह उनके प्रतिष्ठा के अनुरूप यथेष्ट नहीं है। भगवान श्री राघवेन्द्र झुक जाते हैं। वे कहते हैं, "महाराज, ब्राह्मण कहने में आपका अपमान होगा इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं तो आपका अपमान स्वप्न में भी नहीं कर सकता। मेरी दृष्टि में तो जो सबसे बड़ा सम्मानजनक शब्द है, वही मैंने आपके लिए कहा। लेकिन परशुराम क्या सुनना चाहते थे? वे चाहते थे कि श्री राम यह स्वीकार करें कि संसार के अप्रतिम योद्धा परशुराम हैं। भगवान राम ने कहा, "महाराज, जो शब्द आप सुनना चाहते हैं वह तो टकराहट और झगड़े की जड़ है।" यद्यपि उन्होंने लक्ष्मण जी को आँख दिखाकर संकेत कर दिया था कि परशुराम जी से इस तरह बोलना ठीक नहीं है, परन्तु परशुराम जी से भी बड़ी विनम्रता से कह दिया कि "महाराज, आप इस लड़के पर बहुत रुष्ट हो रहे हैं, लेकिन क्षमा करें, सारा दोष इस लड़के का ही नहीं है।" क्यों? भगवान ने कहा—

जो तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥ १/२८१/३

—महाराज, अगर आप फरसा लेकर न आए होते तो अवश्य ही यह आपके चरणों की धूल अपने सिर पर लगा लेता। यह फरसा ही झगड़े का कारण है। इसे जो आप कन्धे पर ढो रहे हैं, यह प्रदर्शन की वृत्ति है। दान अगर प्रदर्शन की वृत्ति से प्रेरित हो तो उसमें कोई सार्थकता नहीं रह जाती। वह तो अहंकार का पोषक हो गया है। भगवान राम ने कहा, "महाराज, यदि आप विप्र के रूप में आते तो क्या इस बालक का इतना साहस हो सकता था? इसे तो शस्त्र प्रेरित कर रहा है। जब आप क्षत्रिय के वेश में आए हैं तो क्षत्रिय वृत्ति से इसके अन्तःकरण में आपसे टकराने की वृत्ति उठ गई। अगर आप ब्राह्मण के वेश में आते तो समन्वय हो जाता। तब यह विनम्र होकर आपके चरणों में प्रणाम करता और आप आशीर्वाद देते। प्रणाम और आशीर्वाद का सार्थक मिलन हो जाता है।"

परशुराम जी की कृपा से समाज में उस समय काम और लोभ कुछ नियंत्रित अवश्य हुआ था, लेकिन अहंकार या क्रोध की वृत्तियाँ उनके द्वारा नियंत्रित नहीं हो पायीं। वे सहस्रार्जुन को भले ही जीत गए हों, पर रावण को नहीं जीत पाये। यद्यपि तर्क तो यही कहता है कि रावण को परास्त करने-वाले सहस्रार्जुन को जब परशुराम जी परास्त कर देते हैं तब तो रावण पर भी उन्हें विजय मिलनी ही चाहिए थी। लेकिन नहीं मिली। क्यों? इसका उत्तर यह है कि रावण के जीवन में दुर्गुणों का जो अतिरेक है उसे मिटाने की शक्ति परशुराम में नहीं है। सहस्रार्जुन की तुलना में रावण के दुर्गुण अधिक शक्तिशाली हैं। सहस्रार्जुन चाहे जितना पराक्रमी क्यों न हो, पर वह सारे विश्व को अपने अधीन नहीं कर पाया था, जबकि रामचरितमानस में लिखा हुआ है कि ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नरनारी ॥ १/१८१/१२ सहस्रार्जुन या बालि बहिरंग दृष्टि से भले ही रावण को हरा दें, पर सारा विश्व तो रावण के ही वश में था। इसका अभिप्राय यह है कि रावण में मोह की वृत्ति है—मोह का अर्थ आप जानते ही हैं—जानते हुए भी अनजान की तरह आचरण करना। यह एक ऐसी बुराई है जो सबसे गहरी और सबके मूल में है। अन्य बुराइयाँ तो दिखाई देती हैं और उन्हें नष्ट करना एक हद तक सम्भव भी है, पर वृक्ष को काट देने पर जमीन के नीचे छिपी हुई जड़ों से शक्ति पाकर नये अंकुर निकल आते हैं। और इस बुराई को समूल मिटाने की शक्ति परशुराम में भी नहीं थी। बल्कि एक ओर जहाँ उनके द्वारा काम और लोभ पर कुछ नियंत्रण प्राप्त हुआ वहीं उसके साथ एक नई समस्या उत्पन्न

हो गयी और वह थी अहंकार एवं क्रोध की। इसीलिए भगवान राम के अवतार की आवश्यकता हुई। जब समाज में काम, क्रोध, लोभ सभी असन्तुलित हो गये हों, ऊपर से अहंकार का डमरुवा हो गया हो और जितने भी मन के रोग हैं वे सब फैल गये हों, तब उस समय चिकित्सा करना बड़ा कठिन होता है। अगर रोग के सन्दर्भ में देखें तो इसे सन्निपात कहेंगे।

आयुर्वेद शास्त्र में दो प्रकार के सन्निपातों का वर्णन है। इन दोनों में से एक प्रकार तो अयोध्या में दिखाई देता है और दूसरा लंका में। पर इन दोनों में एक अन्तर है और वह अन्तर आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार यह है कि एक में मुख्य रूप से मस्तिष्क आक्रान्त होता है और दूसरे में आँत। जब मस्तिष्क आक्रान्त होता है, तब रोगी प्रलाप करने लगता है और ज्वर की तीव्रता में मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है। जब आँत आक्रान्त होती है, तो पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है और एक तरह से अतिसार हो जाता है। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि सन्निपात से जब मस्तिष्क प्रभावित होता है, तब उसकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि ज्वर में ताप अधिक होने पर सिर पर ठण्डे पानी की पट्टी रखने से उत्ताप कम हो जाता है, रोग का प्रकोप घट जाता है और रोगी स्वस्थता की ओर बढ़ने लगता है। लेकिन जब आँतों पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है, और सन्निपात के साथ अतिसार भी हो जाता है तो वैद्य उसे प्रायः असाध्य मानते हैं। उसकी चिकित्सा करना कठिन है। यदि मन के सन्दर्भ में देखें तो इसका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध व लोभ के दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जो अयोध्या में दिखाई देता है और दूसरा वह है जो लंका में, पर एक तो साध्य था और दूसरा असाध्य। एक की चिकित्सा हो गई और दूसरे की नहीं हो पायी। एक में रोगी स्वस्थ हो गया और दूसरे में रोगी की मृत्यु हो गयी, सारे समाज की मृत्यु हो गयी। और इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि काम-क्रोध-लोभ के साथ जहाँ अहंकार की वृत्ति सम्मिलित हो जाय, तो वहाँ बुराइयाँ असाध्य हो जाती हैं। जिस समाज या व्यक्ति के जीवन में काम-क्रोध-लोभ असन्तुलित हो जाय, पर उसके अंतःकरण में इसके लिए पश्चाताप या ग्लानि न हो तो वह स्वस्थ कैसे होगा? अगर किसी व्यक्ति के जीवन में दुर्बलता हो और उसे अपनी दुर्बलता का भान हो, तो वह व्यक्ति उस दुर्बलता को दूर करने की चेष्टा करेगा और स्वस्थ हो जाएगा।

कैकेयी जी और रावण के चरित्र की अगर हम तुलना करके देखें, तो यही दिखाई देगा कि कैकेयी जी भी गम्भीर रूप से रोगग्रस्त हैं और रावण भी। दोनों में सन्निपात के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। और दोनों के चिकित्सक

श्री भरत जी तथा श्री हनुमान जी भी समान रूप से महान हैं। पर दोनों रोग में वही एक अन्तर है, जो सन्निपात के सन्दर्भ में कहा गया। कैकेयी जी पर रोग का आक्रमण हुआ है बुद्धि को केन्द्र बनाकर। मन्थरा ने उनकी बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न कर दिया है। कैकेयी के चित्त में तो संस्कार यही था कि राम मुझसे बहुत प्रेम करते हैं, यहाँ तक कि अपनी माँ से भी अधिक। यदि उनका यह संस्कार दृढ़ बना रहता तो सम्भवतः मन्थरा की बातें उन्हें प्रभावित नहीं कर पातीं। प्रारम्भ में तो प्रभावित हुईं भी नहीं। जिस समय मन्थरा ने यह कहा कि कल राम को राज्य प्राप्त होने वाला है, उस समय तो प्रसन्न होकर उन्होंने यही कहा था, "अगर तेरी बात सच हुई तो तू जो माँगेगी, वही दूँगी।" लेकिन कैकेयी की इस भावना का आधार क्या था? मन्थरा ने देख लिया था कि उसकी जड़ कहाँ है? इस भाव में कि 'राम अपनी माँ से भी अधिक प्रेम मुझसे करते हैं।' बस मन्थरा ने देख लिया कि इस प्रेम का आधार है अहं। यद्यपि वह सात्विक अहं था, पर था अहं ही। और मन्थरा ने सबसे पहले उनके इसी सात्विक अहं को उभाड़ा। उसने कहा कि राम को राज्य मिल रहा है और वे सुख की नींद सो रही हैं। यह सुनकर कैकेयी जी मन्थरा पर बिगड़ खड़ी हुई और बोलीं—

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥ २/१३/८

—"अब फिर कभी यदि तूने घर में झगड़ा लगानेवाली बात कही तो मैं तेरी जीभ कढ़वा लूँगी।" इस तरह कैकेयी जी मन्थरा को खूब फटकारती हैं। पर मन्थरा निराश नहीं होती। वह भी खूब जान गई थी कि यही सात्विक अहंकार कैकेयी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। और इसी अहं को पकड़कर वह अपनी योजना में सफल भी होती है। कैकेयी जी कहती हैं—"मन्थरा क्या तुम जानती हो की मैं पूजा-पाठ क्यों करती हूँ? मैं तो ब्रह्मा से एक ही वरदान माँगती हूँ—

जो बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम सिय पूत पतोहू॥ २/१४/७

—"यदि ब्रह्मा मुझे अगला जन्म दें तो राम मेरा पुत्र बने और सीता मेरी बहू।" अब वैसे देखिए तो यह बड़ी श्रेष्ठ भावना है। राम और सीता को पाने की भावना क्या निन्दनीय है? राम से सम्बन्ध जोड़ने की भावना, सीता से सम्बन्ध जोड़ने की वृत्ति श्रेष्ठ तो है ही, पर उस श्रेष्ठ वृत्ति के पीछे छिपा हुआ जो एक सात्विक अहं है, उसे मन्थरा ने देख लिया। बड़ी प्रसन्न हुई वह।

कोई बात नहीं, राजसिक-तामसिक न सही सात्विक अहं तो है। मन्थरा को पता कैसे चला? अगर कोई कैकेयी से पूछ दे कि आप यह जो चाहती हैं कि अगले जन्म में राम आपका पुत्र हो, सीता आपकी बहू बने, तो आप तो स्वयं कहती हैं कि राम मुझे अपनी माता से अधिक प्रेम करते हैं, तो आप कम क्यों होना चाहती हैं। कैकेयी जी के मन में बात यह है कि ठीक है! राम मुझे अपनी माता से अधिक चाहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन इतना होते हुए भी संसार में अगर पूछा जाय की राम किसका बेटा है, तो वह कौशल्या का ही बेटा तो कहलाएगा, कैकेयी का बेटा तो कोई नहीं कहेगा! यही 'मैं' है। राम को जैसे कौशल्या का बेटा कहा जाता है, उसी तरह मेरा बेटा कहा जाय, भले ही वह प्रेम मुझसे कम करें। उनके अन्तःकरण में जो राम से नाता जोड़ने की वृत्ति है, उसके मूल में यह सात्विक अहं है। और उसे ही पकड़कर मन्थरा ने बड़ी चतुराई से उनकी बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न कर दिया।

काम बहुधा वर्तमानोन्मुख रहता है, क्रोध भूतोन्मुख और लोभ भविष्योन्मुख। क्रोध क्यों आता है? यह सोचकर कि ऐसा क्यों नहीं हुआ? जब क्रोध आता है तो भूतकाल पर ही आता है। जो बीत गया, उसी पर आता है। और काम का स्वभाव है वर्तमान को देखना। वर्तमान में जो प्यास है, जो वासना है, उसकी पूर्ति कैसे हो? भूत तो देख लिया, वर्तमान सामने है, पर एक भविष्य ही ऐसा है, जो दिखायी नहीं देता। उसकी आप चाहे जैसी विचित्र कल्पना कर लीजिये। पता नहीं कितने दिन जीवित रहेंगे? कैसी-कैसी परिस्थितियाँ आएंगी? भविष्य तो पूरी तरह काल्पनिक है। और मन्थरा ने वही किया। उसने कहा कि आपने भूत को तो देख लिया कि राम आपसे बहुत प्रेम करते थे। और अब आप वर्तमान को देख रही हैं कि राम को राज्य देने की तैयारी चल रही है और आपको इसकी कोई सूचना तक नहीं। भला आपसे छिपाने की क्या आवश्यकता थी। कहाँ हैं आपके राम, जो सदा आपके महल में रहते थे? जो महाराज दशरथ सबसे पहले आपके महल में आते थे, अपने किसी भी निर्णय को सर्वप्रथम आपसे कहते थे, वे सब अब कहाँ हैं? सब कुछ कितना बदला हुआ चल रहा है। यह है आपका वर्तमान! आज अयोध्या का प्रत्येक नागरिक यह जानता है कि कल राम को राज्य दिया जायगा। पर क्या आप जानती हैं? यह तो मैं बता रही हूँ आपको। तात्पर्य यह कि अयोध्या में आज मेरे सिवा आपका कोई नहीं रह गया है। अब आप सोचिए कि आपका भविष्य क्या है? और उसने कैकेयी के सामने भविष्य का एक भयावह काल्पनिक चित्र खींचकर रख दिया। कह दिया कि—'रामहि तिलक'—राम सिंहासन पर बैठेंगे। 'भरतु बंदिगृह सेइहहिं'—भरत बंदीगृह

में रहेंगे। और 'लखनु राम के नैन ॥'—और लक्ष्मण राम की ओर से राज्य चलाएँगे। लक्ष्मण को ही सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त होगा। तब—

जौं सुत सहित करहु सेवकाई।
तौ घर रहहु न आन उपाई ॥ २/१८/८

—अब तो तुम्हें बस एक ही काम करना है—कौशल्या की सेवा, जो तुम्हारी सौत है। नौकरानी बनकर रहना पड़ेगा, तभी तुम इस घर में रह पाओगी, अन्यथा कोई उपाय नहीं है। बड़ी चोट लगी कैकेयी को। सोचने लगीं वे, "अरे, मैं तो कौशल्या के बेटे को तो अपने बेटे से भी बढ़कर मानती थी, और कौशल्या के मन में मेरे लिए इतना बड़ा षड़यंत्र !" हो चाहे न हो, सामने-वाले ने तो पैठा दिया न मन में ! जब कैकेयी ने यह सुना कि अच्छा, यह योजना है ! तब उसके मन में प्रतिहिंसा की वृत्ति जाग उठी।

जस कौसिलाँ मोर भल ताका।
तस फलु उन्हहि देऊँ करि साका ॥ २/३२/८

—मैं तो उदार हूँ, अच्छे व्यवहार के बदले अच्छा व्यवहार करना जानती हूँ। लेकिन अगर कोई मुझसे बुरा व्यवहार करता है, तो उसका उत्तर देना भी मुझे आता है। मन्थरा के इस काल्पनिक चित्र से कैकेयी के अहं को धक्का लगा और वह क्रोधित हो उठी। बदला लेने की वृत्ति आ गई। थोड़ी ही देर में कैकेयी इतनी बदल गईं कि जो अभी मन्थरा को फटकार रही थीं, वे ही अब मन्थरा से क्षमा माँगते हुए कह रही हैं—मन्थरा, मैंने तुम्हें पहचानने में बड़ी भूल की। इतने वर्षों तक तुम्हें मैंने पैरों में बैठाया पर तुम पैरों में बैठाने के योग्य नहीं हो। अब तो तुम्हारा स्थान बदल गया है। कहाँ ?

जौं बिधि पुरब मनोरथु काली।
करौं तोहि चख पूतरि आली ॥२/२२/२

—अब तो मैं तुम्हें अपनी आँखों की पुतली बना लूँगी। अभिप्राय यह कि अब मन्थरा की आँखों से ही देखना और मन्थरा के कानों से ही सुनना होगा। वही सुनेंगी जो मन्थरा कह रही है। वही देखेंगी जो मन्थरा दिखायेगी। वही कहेंगी जो मन्थरा कहलायेगी। यहाँ तक कि मन्थरा ने उनको अपना पूरा रूप तक दे दिया। जब वे चलने लगीं तो मन्थरा ने कहा—यहाँ नहीं, कोप भवन में जाओ। कोप भवन में जाने लगीं तो कहा—"इतनी बढ़िया साड़ी-गहने पहन कर कोप भवन में ? वहाँ भला इसकी क्या शोभा ? आप मेरे कपड़े पहन लीजिये। उसने पूरा अपना वेश भी दे दिया। अपना ऐसा अनुगामी बनाया कि सचमुच महाराज दशरथ का काम, कैकेयी का क्रोध और लोभ आपस में मिला और सन्निपात हो गया।

अयोध्या में जो सन्निपात है, उसके महान वैद्य हैं श्री भरत। वे आते हैं और क्रम से चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में तो बड़े विस्तार से इसका वर्णन किया गया है कि अगर कफ, वात और पित्त तीनों ही प्रबल हो गए हों तो उसकी चिकित्सा कहाँ से प्रारम्भ करनी चाहिए ? कफ को पहले शान्त करें या पित्त को या वात को ? आयुर्वेद के अनुसार सन्निपात की चिकित्सा में वैद्य की बड़ी कठिन परीक्षा हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि अगर एक ही धातु विकृत हुई हो तो वैद्य के सामने कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी दवा वह दे देगा और विकृति शान्त हो जायगी। पर जहाँ कई विकृतियाँ एक साथ आ गई हों, वहाँ तो चुनना पड़ेगा कि किस विकृति को दूर करने के लिए किस क्रम का पालन करें। श्री भरत ने सबसे पहले इसका ही निर्णय किया। श्री दशरथ जी के जीवन में काम की दुर्बलता है। वह दुर्बलता मनु के रूप में भी उनमें थी और दशरथ के रूप में भी है। लेकिन इतना होते हुए भी बुद्धि से उन्होंने कभी भी अपने मन के इस दोष को अच्छा नहीं माना। बल्कि उनके मन में सदा इस बात की ग्लानि रही, यद्यपि वे कैकेयी के महल में कामी के रूप में ही गए, पर काम की बुराई को वे तुरन्त समझ गए। वर्णन आता है कि जब वे कैकेयी के महल में गए तो उनके शब्द हैं—

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिक बचनि।
कारन मोहि गजगामिनि निज कोप कर ॥
अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।
केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
काह कीट बपुरे नर नारी ॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चन्द चकोरू ॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें।
परिजन प्रजा सकल बस तोरें ॥ २/२५/१-५

—महाराज दशरथ बार-बार कह रहे हैं—हे सुमुखी ! हे सुलोचनी, हे कोकिलबयनी ! हे गजगामिनी ! मुझे अपने क्रोध का कारण तो बताओ। हे प्रिये, किसने तुम्हारा अनिष्ट किया ? किसके दो सिर हैं ? यमराज किसको ले जाना चाहते हैं ? कहो, किस कंकाल को राजा बना दूँ या किस राजा को

देश से निकाल दूँ ? तुम्हारा शत्रु अमर भी हो, तो भी मैं उसे मार सकता हूँ। बेचारे कीड़े-मकोड़े जैसे नर-नारी तो चीज ही क्या है ? हे सुन्दरी ! तुम तो मेरा स्वभाव जानती ही हो कि मेरा मन सदा तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा का चकोर है। हे प्रिये ! मेरी प्रजा, कुटुम्बी, सर्वस्व (सम्पत्ति), पुत्र, यहाँ तक कि मेरे प्राण भी, सब तुम्हारे वश में हैं।

इस प्रकार महाराज दशरथ कैकेयी जी के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं और उन्हें रिझाने की चेष्टा करते हैं। लेकिन उसकी एक सीमा थी। राम और काम में किसी एक का चुनाव करने का अवसर आ गया था। राम के प्रति भी उनके मन में आकर्षण है और काम के प्रति भी। पर जब दोनों आकर्षण प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आ गये, तब यह नहीं हुआ कि दशरथ जी राम के स्थान पर काम को चुन लें। राम की तुलना में उन्होंने काम को ही तुच्छ अनुभव किया। और तब दशरथ जी ऐसे बदले कि जिन कैकेयी जी के सुन्दर मुख को देखकर वे प्रसन्न हो रहे थे, उन्हीं कैकेयी जी को अब देखना भी नहीं चाहते। ज्योंही कैकेयी ने राम के लिए बनवास और भरत के लिए राज्य माँगा, त्योंही दशरथ जी की आँखें ऐसे बदल गयीं कि उन्हें कैकेयी के 'सुमुख' के स्थान पर कुमुख' दिखाई देने लगा। पहले उनके मन में एक समझौता था। वे कैकेयी से भी प्यार करते थे और राम से भी। कैकेयी स्वयं राम से प्रेम करती थीं और राम भी कैकेयी से। अत: दशरथ जी के इस द्विविध प्रेम में न कैकेयी को आपत्ति थी न राम को। और दशरथ जी अपने जीवन में यही समझौता करके चल रहे थे कि राम और काम—दोनों सुख बना रहे तो अच्छा। लेकिन यह दिखाई देने लगा कि दोनों एक साथ नहीं रह सकते, दोनों में से किसी एक को चुनना होगा, तब गोस्वामी जी कहते हैं—अब दशरथ जी तुरन्त सावधान हो गये। अब उनकी वृत्ति बदली हुई है, दृष्टि बदली हुई है। अब उन्हें कैकेयी सुमुखी नहीं लग रही हैं। अब कैसी लग रही है ?

लागहि कुमुख बचन सुभ कैसे।
मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥ २/४२/७

—कैकेयी के बुरे मुख में ये शुभ वचन कैसे लगते हैं ? जैसे मगध देश में गया आदि तीर्थ। अब सुमुख के स्थान पर कुमुख लगने लगीं। जिन बड़े-बड़े नेत्र वाली सुलोचनी पर रीझे हुए थे, वे अब कैसी लग रही हैं ?

मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥२/५०/१

—वह तो भूखी बाघिन जैसे दीख रही थी। और जिसके शब्द पपीहा के स्वर जैसे मधुर लगते थे वह अब ऐसी लग रही है मानो—

भूप मनोरथ सुभग बनु, सुख सुविहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति
बचनु भयंकर बाजु ॥२/२८

—राजा का मनोरथ सुन्दर वन है, सुख सुन्दर पक्षियों का समुदाय है। उस पर भीलनी की तरह कैकेयी अपना वचन रूपी भयंकर बाज छोड़ना चाहती है। पिकबचनी नहीं, यह तो बाज के समान भयंकर आक्रमणकारी वचन बोल रही है। और जिन्हें वे गजगामिनी कहा करते थे उसे अब क्या कहते हैं ? कहते हैं कि चाल नहीं, स्वभाव हाथी की तरह है।

मोर मनोरथु सुरतरु फूला।
फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेईं।
दीन्हिसि अचल बिपति कै नेईं ॥२/२८/८-६

—महाराज दशरथ सोचते हैं—हाय, मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था, परन्तु फलते समय कैकेयी ने हथिनी की तरह उसे जड़ समेत उखाड़कर नष्ट कर डाला। उसने अयोध्या को उजाड़ दिया और विपत्ति की अचल नींव डाल दी। जैसे हाथी वृक्षों को उखाड़ देता है, इसी प्रकार मेरे मनोरथ के कल्प-तरु को तुमने उखाड़ दिया। फिर दशरथ जी बिना संकोच के कह देते हैं—

लोचन ओट बैठु मुहु गोई ॥ २/३५/६

—तुम मेरी आँखों से दूर चली जाओ, मैं तुम्हारा मुँह भी नहीं देखना चाहता। और उनके यह कहने के बाद भी जब कैकेयी वहाँ से नहीं गयी, तो वे स्वयं कैकेयी के भवन का परित्याग कर देते हैं। उन्हें अपने अन्त:करण के इस काम की वृत्ति पर बड़ी ग्लानि होती है। उन्होंने काम की भयंकरता को देख लिया। इसका अभिप्राय यह है कि उनकी बुद्धि ने काम का समर्थन नहीं किया। बाद में वे कौशल्या जी के भवन में गये। कौशल्या जी ने दशरथ जी को बार-बार समझाया, पर वे अपनी इस बात पर दृढ़ रहे कि अब मैं इस शरीर का परित्याग कर दूँगा। कौशल्या जी ने पूछा—महाराज, आप शरीर का परित्याग क्यों करना चाहते हैं ? तो दशरथ जी ने आँखों में आँसू भर कर कहा—जिस शरीर से मैंने इतने सत्कर्म किये, इतना विचार और सत्संग किया, फिर भी अपनी वासना को नहीं जीत पाया, और उस वासना के प्रवाह में मैंने कैकेयी को ऐसे वचन दे दिये। जो शरीर वासना के कलुष से मलिन हो चुका है वह अब राम की सेवा के योग्य नहीं है, इसलिए उसका प्रायश्चित तो यही है कि—

सो तनु राखि करब मैं काहा।
जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते।
तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर।
हा पितु हित चित चातक जलधर॥ २/१५४/६-८
राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहर रघुबर बिरहँ,
राउ गयउ सुरधाम॥ २/१५५

—उस शरीर को रखकर क्या करूंगा, जिसने मेरा प्रेम का प्रण नहीं निबाहा। हा रघुकुल को आनन्द देने वाले मेरे प्राण प्रिय राम, तुम्हारे बिना जीते हुए मुझे बहुत दिन बीत गये। हा जानकी, लक्ष्मण, हा रघुवर, हा पिता के चित्तरूपी चातक के हित करनेवाले मेघ, इस तरह बार-बार राम कहकर श्री राम के विरह में राजा दशरथ शरीर त्याग कर स्वर्ग सिधार गये।

महाराज दशरथ अपने काम की त्रुटि को समझ लेते हैं और अपने शरीर का बलिदान करके प्रायश्चित करते हैं। उनसे जो भूल हुई थी, उसका श्री राम की स्मृति में डूबकर परिमार्जन कर देते हैं। इसके पश्चात् कैकेयी में जो लोभ और क्रोध की वृत्ति है और जो सात्त्विक अहं है, इन सबकी चिकित्सा का भार महानतम चिकित्सक श्री भरत के ऊपर आया।

श्री भरत जी आये तो उन्होंने कैकेयी को सबसे पहले बहुत ही कड़वी दवा दी। वे समझ गये थे कि मीठी दवा से इनका उपचार नहीं होगा, क्योंकि कैकेयी जी तो सोने की थाल सजाकर और राज्य का प्रस्ताव लेकर खड़ी थीं। श्री भरत ने सोचा कि अगर मैं मीठे शब्दों में इनका अभिवादन करूंगा तो इनके अन्तर्मन में जो लोभ और क्रोध की दुर्वृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा और ये समझेंगी कि ये बड़े सार्थक हैं इसलिए कैकेयी जी ने जब उनके सामने राज्य का प्रस्ताव रखा तो उसके उत्तर में श्री भरत ने कहा—

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं।
मरन काल बिधि मति हर लीन्हीं॥ २/१६१/१-२

—अरी कुमति, जब तूने हृदय में यह बुरा विचार निश्चय किया, उसी समय तुम्हारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गये? वरदान माँगते समय क्या तुम्हारे मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई? तुम्हारी जीभ क्यों नहीं गल गयी? तुम्हारे मुँह में कीड़े क्यों नहीं पड़ गये? राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? जान पड़ता है कि विधाता ने मरने के समय उनकी बुद्धि हर ली थी।

बहुत से लोग कहते हैं कि श्री भरत ने कैकेयी जी के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया वह उचित नहीं था। लेकिन यह निर्णय तो वैद्य ही करेगा कि उसे कौन-सी दवा देनी है। आप यह उलाहना कैसे दे सकते हैं कि वैद्य ने मीठी दवा नहीं दी। काशी में एक वैद्य हैं। एक बार एक सज्जन उनसे बोले कि वैद्य जी, कोई स्वादिष्ट चूरन दीजिए। वैद्य जी बिगड़कर बोले, "क्या इसे कोई चूरन-चटनी की दुकान समझ बैठे हो? चले जाओ यहाँ से! वैद्य के पास आये हो कि चूरन वाले के पास? जो चूरनवाला है, वह तुम्हें स्वाष्टि चूरन देगा। क्योंकि उसका काम ही वही है। पर अगर वैद्य के पास आओगे तो यह तो वैद्य ही निर्णय करेगा कि दवा स्वादिष्ट हो या कड़वी!" वैद्य तो वही दवा देगा जिससे रोगी स्वस्थ हो। यहाँ पर श्री भरत ने कड़वी दवा का प्रयोग किया। कैकेयी के मन में एक ही तो आशा थी। उन्हें लगा कि सम्पूर्ण अयोध्या के लोगों ने मेरा तिरस्कार कर दिया है। दशरथ जी का तिरस्कार उन्हें मिल ही चुका था। चारों ओर से कैकेयी कटी हुई थीं। लेकिन उनके मन में बस एक ही आशा थी—कोई बात नहीं, एक बार मेरा बेटा सिंहासन पर बैठ जाय, फिर मैं देख लूँगी कि कौन मेरा विरोध करता है। क्योंकि सिंहासन और सत्ता के सामने सभी झुक जाते हैं इसलिए अपनी सारी आशाओं का केन्द्र उन्होंने भरत को बना लिया है। लेकिन भरत जी ने जब उनके रोग का निदान किया तो स्पष्ट हो गया कि इस समय यदि उन्होंने कैकेयी जी से मीठा व्यवहार किया तो वह उनके रोग को बढ़ा देगा। तब उन्होंने कैकेयी जी से क्या कहा? उन्होंने कहा कि यह तुम्हारा दुर्भाग्य है कि तुम्हारी बुद्धि दूषित हो गयी है।

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्हीं।
मरन काल बिधि मति हर लीन्ही॥ २/१६१/१-२

इस तरह बड़े कठोर शब्दों में श्री भरत ने कैकेयी को फटकारा। और आगे

चलकर उन्होंने उनका तिरस्कार भी किया। पर उस तिरस्कार में विशेषता यह थी कि कैकेयी जी के मन में अपनी करनी के प्रति पश्चाताप उत्पन्न हुआ। उन्हें लगा कि मेरा लोभ और क्रोध कितना बुरा है। यही तो बुराई से छूटने का सबसे बड़ा और सही उपाय है। इसीलिए जब सब रानियाँ सती होने के लिए चलीं, तो श्री भरत ने कौशल्या जी और सुमित्रा जी के चरण पकड़कर उन्हें सती होने से रोका। लेकिन उन्होंने कैकेयी जी को भी सती होने नहीं दिया। यदि वे यह चाहते कि कैकेयी को दण्ड मिले, तो वे यह सोच सकते थे कि चलो, अन्य माताओं को तो मैंने बचा लिया, पर कैकेयी यदि अपना शरीर जला दे तो अच्छा होगा। लेकिन यह बात श्री भरत के मन में नहीं आई। वैद्य की दृष्टि यही है। कैकेयी को वे शरीर से नहीं मारना चाहते थे। वैद्य रोगी को नहीं मारता, वह तो रोग को मारने के लिए है। तो श्री भरत को लगा कि यह तो उचित मार्ग नहीं है। इसलिए उन्होंने कड़वी दवा का प्रयोग किया।

सती होने के पीछे कैकेयी जी की मनोभावना क्या थी? जब वे भरत जी के द्वारा भी तिरस्कृत हो गयीं तो उन्हें ऐसा लगा कि अब समाज में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं बचा, जिसके मन में मेरे प्रति रंचमात्र भी प्रेम हो या अपनत्व का भाव हो। अगर मैं जीवित रहूँगी तो सारे समाज के लोग मुझे घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। और तब कैकेयी के अहं ने कहा कि अब अपने इस कलंक को मिटाने का एक ही उपाय है कि मैं महाराज के साथ सती हो जाऊँ। इससे लोग मेरे दोषों को भूल जाएँगे और उन्हें यही याद रहेगा कि कैकेयी तो बड़ी सती थी, उन्होंने अपने पति के साथ अपने प्राणों का परित्याग कर दिया। इससे पुरानी भूलों का परिमार्जन हो जाएगा और मैं सती के रूप में याद की जाऊँगी। लेकिन भरत जी ने तो माँ को सती नहीं होने दिया, अग्नि में नहीं जलने दिया। और उन्होंने कैकेयी जी को मानो याद दिला दिया कि अन्य माताएँ जो सती होना चाहती हैं, उनकी भावना को तो मैं समझ सकता हूँ कि उनके मन में पति के प्रति बड़ी प्रीति है, पर आप क्यों सती होना चाहती हैं? और साथ-ही-साथ उन्होंने पूछ लिया कि मैंने तो सुना है कि स्त्रियाँ जब सती होती हैं तो पति के साथ पतिलोक में जाती हैं। तो क्या महाराज के साथ रहकर उनको कुछ और कष्ट देना बाकी है, जो उनके लोक में जाना चाहती हो? वे आपको यहीं पर छोड़कर चले गये। उन्होंने आपको देखना भी पसन्द नहीं किया। आप सती होकर स्वर्ग में जायेंगी तो क्या पिता जी आपको वहाँ देखना पसन्द करेंगे? भरत जी ने कहा—आप यदि जलना ही चाहती हैं तो जलने से मैं आपको नहीं रोकता। मैं नहीं कहता कि मत जलिए। मैं चाहता हूँ कि आप जलिए। लेकिन आपका कल्याण उस आग में जलने में नहीं है। आपका कल्याण तो पश्चाताप की अग्नि में जलने में है। आप अगर अपने आपको पश्चाताप की अग्नि में जलाएँगी तो आपके अपराध जलकर नष्ट हो जाएँगे। इसका अभिप्राय यह है कि आपके भूल के कारण ही रामराज्य नहीं बन पाया, पिता जी की मृत्यु हुई, ऐसी स्थिति में अगर आप और अपनी भूल को समझकर ग्लानि और पश्चातापपूर्वक श्री राम को लौटा लाएँ सिंहासन पर बैठाने की चेष्टा करें तो आपका अपराध धुल जाएगा। और इसके पश्चात् सचमुच कैकेयी के मन में ग्लानि और पश्चाताप का उदय हुआ, गोस्वामी जी कहते हैं—

> गरइ गलानि कुटिल कैकेई।
> काहि कहै केहि दूषनु देई।। २/२७२।१
> अवनि जमहि जाचति कैकेई।
> महि न बीचु बिधि मीचु न देई।। २/२५१/६

—कुटिल कैकेयी मन-ही-मन ग्लानि (पश्चाताप) से गली जाती है। किससे कहे और किसको दोष दें? वे पृथ्वी तथा यमराज से याचना करती हैं, किन्तु धरती बीच (फटकर समा जाने के लिए रास्ता) नहीं देती और विधाता मौत नहीं देते।

यह तीव्रतम पश्चाताप उनके अन्तःकरण में उत्पन्न हुआ। उन्होंने देख लिया कि लोभ और क्रोध का कितना भयंकर परिणाम हुआ। कैकेयी जी जब चित्रकूट गईं तो भगवान् श्री राम तीनों माताओं के बीच सबसे पहले कैकेयी जी के चरणों में प्रणाम कर उनके सीने से लिपट गये। गोस्वामी जी ने लिखा है—

> **प्रथम राम भेंटी कैकेई ।। २/२४३/७**

तीनों माताओं के बीच श्री राम जब कैकेयी जी के हृदय से लग गये तो वे रोने लगीं। उन्हें लगा—अरे, इसी राम पर क्रोध करके मैंने वनवास दे दिया था, पर इसका व्यवहार आज भी मेरे प्रति वैसा ही है। पहले वह अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक चाहता था, यह तो एक साधारण बात थी, लेकिन जब मैंने इसे इतना कष्ट दिया तब भी मेरे प्रति इसका वही पुराना भाव है। आज भी अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक महत्व देता है। और भगवान् राम तो कैकेयी अम्बा के हृदय से लगकर कहने लगे—माँ, तुम बिल्कुल मत घबराना। मेरे हृदय की बात तो केवल तुम्हीं जानती हो। अगर तुमने मुझे वन न भेजा होता तो भरत का चरित्र, भरत का प्रेम समाज के सामने कैसे आता। यह दिव्य औषधि कैसे प्रकट होती? इसलिए तुम दुःख न करो।

और तब कैकेयी ने अपने मन के तीव्र लोभ की निरर्थकता को देखा। अरे, जिस भरत के लिए मैंने इतना लोभ किया, उसने मुझसे कैसा व्यवहार किया, मेरी भर्त्सना की, मेरे राज्य के प्रस्ताद को अस्वीकार किया, जिसके कारण मैं विधवा हो गयी, मुझ पर कितना बड़ा कलंक लगा, समाज से तिरस्कृता हो गई और अन्त में भरत ने राज्य को अस्वीकार कर त्याग का जीवन स्वीकार कर लिया। उन्हें लोभ की व्यर्थता स्पष्ट दिखाई देने लगी। और भगवान् राम के हृदय से लगने के बाद क्रोध की व्यर्थता दिखाई देने लगी। परिणाम यह हुआ कि सन्निपात शान्त हो गया और रामराज्य की स्थापना हुई। लेकिन लंका में जो सन्निपात था, वह पेट का था। उसमें कुछ पचता ही नहीं था। अब दवा ही न पचे तो लाभ कहाँ से हो। वहाँ पर सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि बड़े-बड़े वैद्य गये और जितनी दवा दी गयी, रावण को उनमें से एक भी नहीं पचा। रावण को कभी पश्चाताप नहीं होता कि उसने श्री सीता जी का हरण करके कोई भूल की है। उसे कभी इस बात पर पश्चाताप नहीं होता कि उसने अपने भाई से सोने की लंका छीनकर कोई भूल की है। उसे इस बात पर भी कभी पश्चाताप नहीं होता कि उसने विभीषण पर क्रोध करके कोई भूल की है। जब कोई अपने भूल को स्वीकार ही नहीं करता, तब वह असाध्य सन्निपात ग्रस्त हो जाता है। लंका की समस्या यही है। और इस तरह इन दो नगरों के माध्यम से इन दो प्रकार के सन्निपातों को प्रस्तुत किया गया है। गोस्वामी जी ने मानो बताया कि बुराइयों के साथ हमारे अन्तर्मन में ग्लानि उत्पन्न होना, यह रोग को विनष्ट करने की सबसे पहली शर्त है।

□□

प्रवचन-७

मन के रोगों का जो स्वरूप है, उसे रामचरितमानस में आयुर्वेद की पद्धति के अनुसार शरीर के रोगों से तुलना करते हुए प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेद की मान्यता है कि शरीर में त्रिधातु विद्यमान हैं। ये त्रिधातु हैं—वात, पित्त और कफ। जब तक मनुष्य के शरीर में ये त्रिधातु सन्तुलित रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है, और जब इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, तब व्यक्ति अस्वस्थ्य हो जाता है। ठीक इसी सूत्र के आधार पर मानस रोगों का विश्लेषण करते हुए रामचरितमानस में कहा गया कि मन में भी त्रिधातु अर्थात् वात, पित्त और कफ विद्यमान हैं, जिन्हें काम, क्रोध और लोभ कहते हैं। जब तक व्यक्ति के मन में ये तीनों सन्तुलित रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है; पर जैसे ही इनमें असन्तुलन उत्पन्न होता है, वैसे ही व्यक्ति का मन अस्वस्थ हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में अशान्ति और दुःख का उदय हो जाता है। वैसे तो काम, क्रोध और लोभ में से किसी एक के असन्तुलित होने पर भी, व्यक्ति मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। पर जब कभी ये तीनों एक साथ असन्तुलित हो जाते हैं, तब इसे आयुर्वेद की भाषा में सन्निपात कहा जाता है। पिछले प्रवचनों में इस मानसिक सन्निपात की चर्चा हो चुकी है।

सन्निपात का वर्णन करने के बाद काकभुशुण्डि जी ने कहा कि मन की जितने भी प्रकार की लालसाएँ हैं, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार के शूल (पीड़ा) की सृष्टि करती हैं और इन असंख्य कामनाओं की तरह ही मन के रोग भी असंख्य हैं। लेकिन उनमें से कुछ मुख्य रोग जिनके बारे में कहा, सुना और समझा जा सकता है, उन्हें प्रस्तुत किया गया है। अब वे जिसका वर्णन करने जा रहे हैं, वह बड़ा विचित्र रोग है। यह रोग बहुधा हमें रोग ही प्रतीत नहीं होता, पर आध्यात्मिक जीवन में इसे काफी महत्व दिया गया है और उसे कहते हैं, 'ममता'। ममता का वर्णन करते हुए, उसकी तुलना शरीर के रोगों में 'दाद' से की गयी। ममता मन का दाद है। जब किसी व्यक्ति को ज्वर हो जाता है, तो व्यक्ति स्वयं अपने आपको अस्वस्थ अनुभव करता है और दूसरे भी उसे देखकर जान लेते हैं। सन्निपात होने पर तो अस्वस्थता की और भी तीव्र अनुभूति होती है, जो रोगी से अधिक दूसरों को दिखाई देती है। पर यह दाद ऐसा विचित्र रोग है कि जिसके होने पर कोई यह नहीं समझता कि वह

रोगी है। कभी उसको लगता ही नहीं कि यह भी कोई कष्ट देनेवाला रोग है। जैसे अन्य रोगों में स्वस्थ होने की चेष्टा दिखाई देती है, वैसी इसमें दिखाई नहीं देती। गोस्वामी जी ने ममता की तुलना जो दाद से की है, इसका कारण बड़ा मनोवैज्ञानिक है। काम, क्रोध, लोभ की विकृति होने पर व्यक्ति जब अस्वस्थ होता है, तो उसे इसका स्पष्ट बोध रहता है, परन्तु यह बड़ी विचित्र बात है कि अपनी इस ममता की ओर व्यक्ति का ध्यान बहुधा जाता ही नहीं। वह सोच भी नहीं पाता कि मेरे मन में ममता नाम का कोई रोग है। ममता की इस विचित्रता पर गोस्वामी जी एक बड़ा ही सुन्दर व्यंग्यात्मक संकेत देते हैं कि अन्य रोग तो केवल दुःख ही दुःख देते हैं, पर यही एक ऐसा रोग है, जिसमें दुःख एवं सुख दोनों की अनुभूति होती है। दाद में खुजलाहट होती है। उसे खुजलाकर आदमी बड़े सुख का अनुभव करता है और बाद में जलन होने पर कष्ट का अनुभव भी करता है। ये दोनों बातें ममता के साथ भी जुड़ी हुई हैं। एक तो वह रोग होते हुए भी रोग प्रतीत नहीं होता और सुख एवं दुःख दोनों की सृष्टि करता है। वास्तव में हम देखते हैं कि कभी-कभी मनुष्य इस ममता को लेकर स्वयं को अत्यन्त सुखी अनुभव करता है। ममता का अर्थ है—ममत्व, मेरापन, वह वस्तु मेरी है, इस व्यक्ति से मेरा सम्बन्ध है, वह मेरा है, इत्यादि। इस मेरेपन के कारण व्यक्ति के हृदय में जिस लगाव का अनुभव होता है उसी का नाम ममता है। जिनसे हमें ममता होती है, उन्हें जब हम उन्नति करते देखते हैं, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यही एक प्रकार की अनुभूति हो ऐसा नहीं है। यह भी होता है कि जिनसे हमारी ममता हो, यदि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करते हैं या हमारी भावनाओं का ध्यान नहीं रखते तो हमारे हृदय में बड़ी पीड़ा होती है। ममता की इस वृत्ति को रामचरितमानस के विभिन्न प्रसंगों में विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ पर गोस्वामी जी एक सूत्र देते हैं। इस प्रसंग में तो उन्होंने ममता को मन का दद्रु कहा, पर अन्यत्र एक दूसरे प्रसंग में ममता की तुलना धागे से की—

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
...............बाँध बर डोरी॥ ५/४८/४-५

—"माता, पिता, भाई, पुत्र, पत्नी, शरीर, धन, गृह, मित्र और सम्बन्धी—इन सबके प्रेमरूपी धागों को एकत्र कर डोरी बना ले।" यहाँ पर ममता को धागा कहा गया। धागा बन्धन का हेतु है। लेकिन एक तीसरे प्रसंग में तो बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही गई है? क्या?

ममता तरुन तमी अँधिआरी। ५/४७/३

—ममता अँधेरी रात है। अमावस्या की गहरी अँधेरी रात में कुछ भी दिखाई नहीं देता। पर ममता के लिए इस उपमा की क्या सार्थकता है? ऐसा तो नहीं लगता कि ममता होने पर दिखाई न देता हो। तब गोस्वामी जी व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यह कब कहा कि अँधेरी रात में दिखाई नहीं देता। पर हाँ, सबको दिखाई नहीं देता। जिसे दिखाई देता है, वह उल्लू को छोड़ और कौन होगा? किसी के मन में ममता हो और वह यदि कहे कि मुझे दिखाई दे रहा है तो समझ लेना कि वह कौन है? जैसे सामान्यतः देखने के लिए व्यक्ति की दो आँखें होती हैं, उसी तरह ममता की अँधेरी रात में देखने वाले ये उल्लू भी दो हैं। ये दो उल्लू कौन हैं?

राग द्वेष उलूक सुखकारी। ५/४७/३

—ममता घनी अँधेरी रात है, राग-द्वेष रूपी दो उल्लुओं को सुख देनेवाली है। जिसके अन्तःकरण में ममता हो और वह समझता हो कि मैं देख रहा हूँ, तो वह अवश्य ही या तो राग की दृष्टि से देख रहा होगा या द्वेष की दृष्टि से। वस्तुतः उसका देखना सर्वथा दोषरहित नहीं है। इसलिए जो वस्तु जैसी है उसे वह उसी रूप में न देखकर, अन्य रूपों में देखता है।

रामचरितमानस के विभिन्न प्रसंगों में ममता की विभिन्न रूपों में व्याख्या की गई है। गोस्वामी जी ज्ञान भक्ति और कर्म—तीनों के सन्दर्भ में ममता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसकी बड़ी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। ज्ञानी के जीवन में तो ममता सर्वथा त्याज्य है ही, भक्त के जीवन में भी ममता ईश्वर समर्पित हो जाती है और कर्मयोगी को भी अपने जीवन में इसे धीरे-धीरे समेटना चाहिए। इस तरह ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के सन्दर्भ में ममता की चर्चा की गई है और उसकी विविध वृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। रामायण में एक ऐसा प्रसंग है, जिसे लोग बड़े आनन्द से पढ़ते या सुनते हैं। परन्तु जिस सन्दर्भ में उसे पढ़ा या सुना जाता है, वही उसका भाव नहीं है। वह एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है। विशेषकर जब कहीं रामलीला चल रही हो तो उसमें अन्य लीलाएँ तो कुछ ही घण्टों में समाप्त हो जाती हैं, पर जब लक्ष्मण-परशुराम संवाद प्रारम्भ होता है, तो वह रात-भर चलता रहता है। रामायण में जितना है, उससे भी बहुत आगे बढ़कर वह संवाद होता है और दर्शक तथा श्रोता इस संवाद में बड़ा आनन्द लेते हैं। लेकिन उनके आनन्द लेने की वृत्ति जिस स्तर

की है और उसे जिस स्तर पर प्रस्तुत किया जाता है, उसे बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए एक सन्त ने अपने आश्रम में चल रही रामलीला में लक्ष्मण-परशुराम संवाद के दिन उमड़ी भीड़ को देखकर प्रसन्न होने के स्थान पर दुःख प्रकट करते हुए कहा कि इससे पता चलता है कि रामलीला में भी लोग झगड़ा देखना ही पसन्द करते हैं। शान्ति की बातें पसन्द नहीं करते। जिसमें समत्व हो, शान्ति हो, भक्ति हो, वैराग्य हो; उसमें उतना रस नहीं आता, जितना कि तू-तू मैं-मैं में आता है। साधारण दृष्टि से देखें तो लक्ष्मण-परशुराम संवाद का प्रसंग तू-तू मैं-मैं का प्रसंग प्रतीत होता है। और उसमें व्यक्ति को ऐसा कुछ सन्तोष मिलता है कि चलो रामायण में भी कुछ ऐसे पात्र हैं, जो हम लोगों की तरह तू-तू मैं-मैं करते हैं। और इससे हृदय में ऐसी वृत्ति आती है कि इतने महान पात्र भी जब ऐसा कर सकते हैं, तो हम भी ऐसा करके कोई गलत काम नहीं करते। इसको अलग-अलग देखने-वाले अलग-अलग रूपों में देखते हैं। तुलसीदास जी के सन्दर्भ में तो यह बात बार-बार कही जाती है वे बड़े घोर ब्राह्मणवादी थे। उन्होंने ब्राह्मणों का बड़ा पक्ष लिया है। पर इससे यह न समझ लीजिएगा कि ब्राह्मण उनसे बड़े सन्तुष्ट हैं। ब्राह्मणों ने मुझसे उलाहना देते हुए कहा कि तुलसीदास जी ने एक ब्राह्मण परशुराम की ऐसी दुर्दशा करा दी कि लगता है, उन्हें ब्राह्मणों के प्रति जरा भी सहानुभूति नहीं है। लोग जातिवाद से अत्यन्त पीड़ित हो गये हैं और आज के सन्दर्भ में एक बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। राजनीति या विविध कारणों से लोगों में इतनी असन्तोष की वृत्ति आ गई है कि वे रामचरितमानस के विविध प्रसंगों को भी जब देखते हैं तो बहुत ही हल्के स्तर पर उन्हें देखने और चर्चा करने लग जाते हैं।

वस्तुतः लक्ष्मण-परशुराम संवाद की विशेषता यह है कि बाहर से चाहे जितना विनोद-भरा दिखाई दे, पर भीतर से वह उतना ही गम्भीर है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के सन्दर्भ में यह प्रसंग अत्यन्त गूढ़ तत्त्वों से भरा हुआ है। यहाँ पर तो इस प्रसंग को एक विशेष सन्दर्भ में लिया गया है, फिर भी सूत्र रूप में कुछ बातें रखी जा रही हैं। अगर ज्ञान की दृष्टि से देखें तो परशुराम जी का यह प्रसंग स्वरूपविस्मृति का प्रसंग है। वेदान्त की मान्यता यह है कि सारा दुःख अपने आप को न जानने के कारण है। गोस्वामी जी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए विनयपत्रिका में कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति प्यासा हो और पानी के अभाव में मर जाय तो यह स्वाभाविक लगता है। परन्तु किसी व्यक्ति के निकट ही यदि ठण्डे जल से भरा घड़ा रखा हो और नींद में सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में देख रहा हो कि वह कहीं मरुस्थल में प्यास से तड़प रहा है, गला सूख रहा है, प्राण निकल रहे हैं; तो ऐसे व्यक्ति को न तो मरुस्थल से निकालने की आवश्यकता है और न उसके लिए पानी ले जाने की। उसे तो केवल जगा भर देने की आवश्यकता है। वेदान्त की मान्यता यह है कि व्यक्ति के अत्यन्त निकट जो आनन्द का केन्द्र है, सुख का केन्द्र है, उसे न जानने के कारण ही वह दुखी है। अगर वह केन्द्र न होता और व्यक्ति उसके अभाव में दुखी होता, तब तो लगता कि सचमुच इसके जीवन में सुख का अभाव है। पर अन्तर में सुख का कोष होते हुए भी वह दुखी है, इसका अभिप्राय क्या है? वह अभाव के कारण दुखी नहीं, बल्कि अज्ञान के कारण दुखी है। इसे ही गोस्वामी जी विनयपत्रिका में कहते हैं कि जो अभावजन्य दुख है, वह तो वस्तु से दूर होगा, पर अज्ञानजन्य दुख वस्तु से नहीं, जानने से ही दूर होगा। सपने में किसी व्यक्ति ने किसी का सिर काट लिया। अब उसका यह दुःख कैसे दूर होगा? उस व्यक्ति के सिर को जोड़ने के लिए किसी शल्य चिकित्सक की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है तो केवल उसे जगा देने की। गोस्वामी जी दृष्टान्त देते हैं कि व्यक्ति पलंग पर सोया हुआ स्वप्न देख रहा था कि वह समुद्र में डूब रहा है और जोर-जोर से चिल्ला रहा है, 'मैं डूब रहा हूँ, बचाओ, बचाओ।' सुनकर एक सज्जन कमरे से भागे। किसी ने पूछा, 'कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा, 'नाव लाने।' कितनी नावें? एक दो नहीं, करोड़ों नावें लाकर भी आप उसके पलंग के चारों ओर लगा दोगे तो भी क्या लाभ?

सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥

—"सुन्दर सेज पर सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में अपने को डूबता हुआ देखकर डरे, तो उसे करोड़ों नावों के द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता।" उसे बचाने का तो एक ही उपाय है कि आप उसे जगा दें। यही वेदान्त की मान्यता है कि सारा दुःख अज्ञानजन्य है, अभावजन्य नहीं।

यहाँ परशुराम जी के प्रसंग में भी वेदान्त की दृष्टि से बड़ी सांकेतिक बात कही गई है। राम को ही नहीं पहचान पा रहे हैं? परशुराम जी द्वारा न पहचान पाने का तात्पर्य क्या है? श्री राम भी ईश्वर के अवतार हैं और परशुराम जी भी। वैसे विचार करके देखें तो वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव, ईश्वर का ही अंश है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥ ७/११७/२

—जीव ईश्वर का अंश है, अतः उसमें ईश्वर के लक्षण भी विद्यमान हैं और

जीव के भी। जीव अपूर्ण है और वह अपूर्णता क्या है? अज्ञान! जीव की अपूर्णता अभावजन्य नहीं, अज्ञानजन्य है। परशुराम जी की समस्या क्या है? वे अशान्त क्यों हैं, दुखी क्यों हैं? विवाद क्यों करते हैं?—अज्ञान के कारण और उनकी सारी समस्याओं का समाधान कब हुआ? "जाना राम प्रभाव तब—" जान लेने पर। परशुराम जी ने श्री राम को पहचान लिया। उनका क्रोध शांत हो गया और ग्लानि दूर हो गई। गोस्वामी जी ने अपनी शैली में लिखा—

बार बार मुनि बिप्रबर,
कहा राम सन राम। १/२८२

—'राम से राम बोले' यह कहकर गोस्वामी जी यहाँ यह बताना चाहते हैं कि यह प्रकाश और अन्धकार के बीच की बात नहीं है, यह प्रकाश और प्रकाश के बीच की बात है। झगड़ा समाप्त हो गया। न कोई युद्ध हुआ और न शस्त्र चले। केवल जान लेने से ही सारा झगड़ा समाप्त हो गया। बस—

जाना राम प्रभाउ तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन, हृदयँ न प्रेमु अमात॥ १/२८४

—तब उन्होंने श्री राम का प्रभाव जाना और उनका शरीर पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। इतना प्रेम उमड़ आया कि उनके हृदय में समा ही नहीं रहा था। अब वे राम के स्वरूप को पहचान गये थे, उनकी परिपूर्णता को जान गये थे। दोनों के बीच जो दूरी थी, वह मिट गयी। इस तरह राम और राम में जो विरोध दिखाई दे रहा था वह समाप्त हो गया। अभिप्राय यह है कि जब तक स्वरूप की विस्मृत है, तभी तक टकराहट है। जब स्वरूप की स्मृति हो जाती है, स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब जैसे कोई स्वयं से नहीं लड़ता, उसी प्रकार राम से राम का न लड़ना ही स्वाभाविक है। उनमें परस्पर युद्ध न होना बिल्कुल स्वाभाविक है। यह तो हुआ ज्ञान के सन्दर्भ में, पर भक्ति के सन्दर्भ में हम इस पर विशेष रूप से चर्चा करेंगे, क्योंकि इस दृष्टिकोण से परशुराम जी के चरित्र से हमें काफी प्रेरणा मिल सकती है।

परशुराम जी ने ब्रह्मचर्य के द्वारा काम को जीत लिया था और दान के द्वारा लोभ को जीत लिया था। वे महान तपस्वी, महान शास्त्रवेत्ता, महान पितृभक्त और सद्गुणों के पुंज थे। पर इतना सब होते हुए भी परशुराम जी के जीवन में शान्ति क्यों नहीं थी? जो लोग दुष्कर्म करके दुखी हैं, उनकी बात तो समझ में आती है कि पाप करने पर व्यक्ति दुःख पा रहा है, लेकिन अगर किसी को सत्कर्म करते हुए भी शान्ति नहीं मिल रही है, तो इसका मतलब क्या है? परशुराम जी के जीवन में तो सत्कर्मों की पराकाष्ठा दीख पड़ती है। उन्होंने कोई छोटा-मोटा दान नहीं, पूरी पृथ्वी का दान किया था। उनका

ब्रह्मचर्य भी साधारण नहीं था, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। पर इतना होते हुए भी परशुराम जी को शान्ति नहीं मिली। इस महान प्रसंग की उपलब्धि यह है कि परशुराम जी को अन्ततः शान्ति मिल जाती है। उनके जीवन से हमें शान्ति का मार्ग दिखाई देता है। उनके जीवन में अशान्ति का मूल कारण क्या था? यदि हम इस पर विचार करके देखें तो वहाँ हमें दो ही ऐसे कारण दिखाई देंगे जो परशुराम जी को दुखी और अशान्त बनाये हुए हैं। हम चाहे जितना भी सत्कर्म क्यों न करें पर जब तक ये दोनों हमारे जीवन में विद्यमान रहेंगे, तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। परशुराम जी के अन्तःकरण में ये दो भाई हैं, जो उन्हें दुखी और अशांत बनाए हुए हैं और उनके सामने दो भाई खड़े हैं, जो उन्हें सुख और शान्ति प्रदान करने वाले हैं। भीतर दो भाई हैं अहंता एवं ममता और सामने खड़े हैं श्री राम तथा लक्ष्मण। अहंता का समाधान हैं श्री राम और ममता का श्री लक्ष्मण। ये अहंता और ममता अर्थात् मैं और मेरापन—एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। वेदान्त के इस सूत्र को रामायण में भी कहा गया है—

कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु।
अह मम मलिन जनेषु॥ २/२२५

—कवि के लिए यह ब्रह्मसुख उसी तरह से अगम है, जैसे अहं और मम से मलिन अन्तःकरण के लिए सुख। जब तक यह अहंता और ममता नहीं मिट जाती, तब तक जीवन में सुख और शान्ति नहीं आ सकती। यही अहंता और ममता ही परशुराम जी की समस्या है। भगवान् राम और लक्ष्मण से परशुराम जी के संवाद का क्या तात्पर्य है? वस्तुतः यह दो समस्याओं और दो समाधानों के बीच संवाद है। परशुराम जी की अहंता को दूर किया श्री राम ने और ममता को दूर किया लक्ष्मण जी ने और यह बड़ी स्वाभाविक प्रक्रिया है। भगवान् राम हैं ज्ञानघन और अहंकार होता है अज्ञान से। लक्ष्मण जी हैं वैराग्यमूर्ति और ममता होती है आसक्ति से। मनुष्य के जीवन में जब अहंकार की वृत्ति आती है तब वह अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है। कई बार तो हम अहंकार की वृत्ति यह सोचकर स्वीकार कर लेते हैं कि इससे हम बड़े हो जाएँगे। परन्तु अहंकार के द्वारा व्यक्ति बड़ा नहीं, सिमट कर छोटा हो जाता है। क्यों? अहं के लिए वह अपने आपको किसी-न-किसी सीमा में आबद्ध कर लेता है। चाहे वह देश की हो या जाति की या धर्म की, वह एक सीमा से सिमट जाता है। एक व्यक्ति जब ऐसा गर्व पाल लेता है कि मैं धनवान हूँ, तो वह अपने को छोटा बना लेता है। बड़ा बनने की चेष्टा में वह छोटा बन गया। दोनों राम खड़े हैं। दोनों में क्या अन्तर दिखाई दे रहा है?

परशुराम जी भगवान् राम से कहते हैं कि तुम मुझसे युद्ध करो और भगवान् राम उनसे विनम्रतापूर्वक पूछते हैं कि यदि मैं आपसे युद्ध न करना चाहूँ तो क्या कोई और विकल्प नहीं है? उन्होंने कहा—एक विकल्प है। क्या?

करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा॥ १/२८१/२

—विकल्प यह है कि यह जो तुम्हारा नाम 'राम' रखा गया है, इसे तुम छोड़ दो। आज से राम कहलाना बन्द कर दो। राम केवल मैं रहूँगा, दूसरा कोई नहीं रहेगा। इन दोनों रामों में क्या अन्तर है? राम और परशुराम में अन्तर यह है कि श्री राम जब राक्षसों को मारते हैं, तो उन्हें भी राम बना देते हैं। जो सारे संसार को राम बना दे वह पूर्ण है और जो यह कहे कि मुझे छोड़कर कोई दूसरा राम न रहने पाये, वह अपूर्ण है। श्री राम सबको यहाँ तक कि रावण, कुम्भकर्ण को भी राम बना देते हैं। लोग आश्चर्य से देखते हैं कि श्री राम खर, दूषण, त्रिसिरा पर बाण तो चला रहे हैं पर वह सारी चेष्टा किसलिए हो रही है? वह तो जैसे छेनी-हथौड़ी लेकर कोई मूर्तिकार पत्थर पर प्रहार कर रहा हो। देखने वालों को लगेगा कि शिल्पी बड़ा निर्दयी है, लेकिन अन्त में हम देखते हैं कि उसने एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति का निर्माण कर दिया है और तब लगता है कि बिना छेनी-हथौड़ी का प्रयोग किए पत्थर से इतनी सुन्दर आकृति नहीं निकल सकती थी। भगवान् तो वस्तुत: बाण के द्वारा मूर्ति गढ़ते हैं। उनका यह कार्य प्रारम्भ में तो लगता है कि प्रहार कर रहे हैं, पर अन्त में क्या दिखाई देता है? जब कुम्भकर्ण भगवान् राम के सामने आ खड़ा होता है तो देवताओं को लगता है कि बस अब इस दुष्ट का वध हुआ ही समझो, परन्तु अगले ही क्षण जो दृश्य दिखाई दिया, उससे वे चौंक पड़े। क्या देखा उन्होंने? जैसे ही कुम्भकर्ण का सिर कटा, गोस्वामी जी कहते हैं—

तासु तेज प्रभु बदन समाना। ६/७१/८

—उसका तेज निकलकर भगवान् श्री राम के मुँह में समा गया। देवताओं ने चकित होकर देखा कि अब तो कुम्भकर्ण भी राम बन गया। राम में मिलकर राम हो गया। कुम्भकर्ण ही नहीं, रावण भी राम में समाकर राम हो गया और इतना ही नहीं बल्कि गोस्वामी जी तो यह भी लिखते हैं कि जब कुम्भकर्ण भगवान् के मुख में समाने लगा, भगवान् में मिलकर एक होने लगा तब—

तासु तेज प्रभु बदन समाना।
सुर मुनि सबहि अचंभव माना॥ ६/७१/८

—देवताओं और मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम लोग महान साधना

के द्वारा जिस एकत्व पर विचार करते हैं, उस एकत्व की यहाँ प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर अभिमान समाप्त हो जाता है वहाँ पर समत्व की—कि सब राम हैं—यही वृत्ति रह जाती है। क्योंकि अभिमान के लिए दो चाहिए और दो में भी एक छोटा और एक बड़ा। अभिमान बराबरी में नहीं होता। यही परशुराम जी की वृत्ति है। उनको दो दिखाई दे रहा है और दो में भी उनकी इच्छा यह हो रही है कि हमारी बराबरी का कोई अन्य न रहे। दूसरा रहे भी तो, कोई अन्य नाम रख ले, बहुत नाम हैं। राम मैं अकेला रहूँगा, तुम राम कहलाना बन्द करो। यह अहं उनकी एक समस्या है, जो सत्कर्म से घटा नहीं बल्कि बढ़ा है। उन्होंने अपने आपको एक सीमा में संकुचित कर लिया है। एक ओर तो पुराण कहते हैं कि परशुराम भगवान् के अवतार हैं और दूसरी ओर यह प्रश्न उठता है कि क्या भगवान् की कोई जाति होती है?

हनुमान जी और भगवान् राम का जब पहली बार मिलन हुआ, तब भक्त और भगवान्—दोनों ने एक दूसरे की बड़ी मीठी चुटकी ली लेकिन वहाँ पर दृष्टि की एक विशेषता है। हनुमान जी ने किसी वर्ण में जन्म नहीं लिया। वे चाहते तो अयोध्या में जन्म ले सकते थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र—जिस वर्ण में चाहते उसी में जन्म ले सकते थे। परन्तु हनुमान जी ने अपने आपको किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया। उनमें कोई अभिमान नहीं है। जब कोई व्यक्ति अभिमान पाल लेता है, तब वह एक सीमा बना लेता है। ब्राह्मणत्व का अभिमान होने पर वह अपने कर्म की एक सीमा बना लेता है, तब क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का कर्म करने में वह कुण्ठित हो जाता है। इसी तरह क्षत्रिय या वैश्य भी सीमाबद्ध हो जाता है। हनुमान जी ने सोचा कि प्रभु की सेवा तो किसी सीमा में रहकर नहीं की जा सकती। किसी वर्ण में जन्म लेने पर तो उस वर्ण के अनुरूप ही सेवा कर पाऊँगा तथा सम्भव है अन्य वर्ण के अनुरूप सेवा लेने में प्रभु भी संकोच करें। इसलिए ऐसा शरीर बना लें, जो आवश्यकतानुसार सभी वर्णों का कर्म कर सके और सचमुच हनुमान जी जब जैसी आवश्यकता होती वैसे ही बन जाते। जब ब्राह्मण बनना चाहते ब्राह्मण बन जाते, जब क्षत्रिय बनना चाहते क्षत्रिय बन जाते। जब सुग्रीव ने उनसे कहा कि ब्राह्मण बनकर जाइए तो ब्राह्मण बन गए। पर वहाँ पर पहला कार्य उन्होंने क्या किया—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।
माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥ ४/१/६

हनुमान जी ब्राह्मण के रूप में वहाँ गए और मस्तक नवाकर सबसे पहले भगवान् राम को प्रणाम किया। भगवान् को तो हँसी आ गई और बाद

में उन्होंने हनुमान जी से व्यंग्य भी किया कि तुमने नाटक तो किया पर तुम्हारा अभिनय सफल नहीं रहा। क्यों? जब आप ब्राह्मण बनकर आए तो आपको प्रणाम नहीं करना चाहिए था। क्षत्रिय आपको प्रणाम करता और इसके लिए आपको प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। पर जब आप स्वयं प्रणाम करने लगे तो मैं समझ गया कि आप नकली ब्राह्मण हैं। हनुमान जी ने कहा—नहीं महाराज, असली ब्राह्मणत्व तो उसी समय था। सारा ब्राह्मणत्व क्या प्रणाम न करने में ही है? शास्त्र ब्राह्मण की परिभाषा क्या मानता है? प्रभु बोले, शास्त्र तो कहता है कि—

'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।'

—जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण है। हनुमान जी ने कहा—प्रभो, मैंने तो आपको ब्रह्म जानकर ही प्रणाम किया। मैं ही असली ब्राह्मण हूँ क्योंकि मैंने आपको पहचान लिया था। ऐसी स्थिति में आप यह कैसे कह रहे हैं कि मेरा अभिनय सफल नहीं रहा। प्रभु ने कहा—पहचान लिया यह तो ठीक है पर रंगमंच की एक मर्यादा भी होती है, वहाँ तो मैं क्षत्रिय और तुम ब्राह्मण थे। हनुमान जी ने मुस्कराकर कहा—प्रभो! जब मैं ब्राह्मण बना तो सचमुच का ब्राह्मण बन गया था, नकली नहीं और मुझमें ब्राह्मत्व भी आ गया था, अतः मैं आपको क्षत्रिय नहीं, प्रभु ही देख रहा था। और जब आपको प्रणाम किया तब क्षत्रिय को नहीं, प्रभु को प्रणाम किया। यदि क्षत्रिय जानकर प्रणाम किया होता तो अवश्य ही मेरा अभिनय असफल होता। मैंने आपको क्षत्रिय वेश में देखा तो आपसे पहले ही पूछ लिया—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।

—साँवले तथा गौर वर्ण के आप दोनों वीर कौन हैं? और अगला वाक्य बड़ा सुन्दर है। प्रभु ने कहा—तुम तो देख रहे हो कि हमारे हाथ में धनुष-बाण है, फिर भी पूछ रहे हो कि हम कौन हैं। हनुमान जी बोले—महाराज देख तो रहा हूँ पर आप—

छत्री रूप फिरहु बनबीरा। ४/१/७

—क्षत्रिय का वेश बनाकर वन में घूम रहे हैं। हनुमान जी का अभिप्राय यह है कि जैसे मैं वेशधारी नकली ब्राह्मण हूँ, उसी तरह आप भी क्षत्रिय का वेश बनाए हुए नकली क्षत्रिय हैं। क्या ब्रह्म की भी कोई जाति होती है? वह किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं है। वह तो अपने आपको चाहे जिस जाति, वर्ण, यहाँ तक कि पशु-पक्षी के रूप में भी व्यक्त कर देता है। हनुमान जी ने तो उसी ब्रह्म को क्षत्रिय वेश में देखकर प्रणाम किया। जिनकी ऐसी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि है, उनके लिए भगवान् शंकर कहते हैं—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध
निज प्रभुमय देखहिं जगत
केहि सन करहीं बिरोध॥ ७/११२ (ख)

—"हे उमा! जो श्रीराम के चरणों के प्रेमी हैं और काम, अभिमान तथा क्रोध से रहित हैं, वे जगत् को अपने प्रभु से परिपूर्ण देखते हैं, फिर वे किससे वैर करें? पर जिस व्यक्ति ने अपने आपको किसी सीमा में बाँध लिया है, उसके जीवन में तो टकराहट की समस्या आएगी ही। परशुराम जी के जीवन में यह समस्या थी। कहाँ तो एक ओर वे साक्षात् ईश्वर के अंश आवेशावतार हैं और कहाँ उन्होंने अपने आपको एक सीमा में बाँध लिया। और वह सीमा भी उनकी अपनी ही बनाई हुई है। क्षत्रिय जाति ने अन्याय किया और उन्होंने दण्ड दिया। वे कह सकते थे कि मैं क्षत्रिय जाति का कल्याण करनेवाला हूँ, मैं उन्हें सही रास्ते पर ले जाने वाला हूँ। परन्तु उन्होंने ब्राह्मण के रूप में एक तीव्र संस्कार पाल लिया और भगवान राम को भी अपना परिचय देने लगे कि मैं कोई साधारण ब्राह्मण नहीं—

बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्व बिदित क्षत्रिय कुल द्रोही॥ १/२७२/१

—मैं बालब्रह्मचारी हूँ और अति क्रोधी हूँ। इतना ही नहीं यह भी अच्छी तरह से समझ लो कि मैं क्षत्रिय कुल का विश्वविख्यात शत्रु हूँ, उसे मिटा देने वाला हूँ और तुम दोनों क्षत्रिय हो। अब अगर भगवान राम भी परशुराम की तरह अपने आपको किसी जाति की सीमा में बाँध लें और यह कहें कि अगर आप ब्राह्मण हैं तो मैं भी क्षत्रिय हूँ, चलिए हो जाए हमारा युद्ध। और ऐसा युद्ध इतिहास में कई बार हुआ भी है। हर युग में हर प्रकार के व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। ऐसी बात नहीं कि जातियतावादी वृत्ति एक युग में रहती हो और दूसरे में नहीं। हाँ, किसी युग में वह अधिक हो जाती है और किसी में कम। इसी जातियतावादी मनोवृत्ति के कारण ही भीष्म व परशुराम के बीच में भी एक-बार टकराहट हुई थी।

वैसे तो भीष्म परशुराम जी के ही शिष्य थे पर किसी एक बात पर दोनों के बीच ठन गई थी। और जिस कारण ऐसा हुआ उसमें भीष्म का पक्ष दुर्बल और परशुराम जी का न्यायपूर्ण था। भीष्म काशीराज की स्वयम्वर-सभा से उनकी तीन कन्याओं का अपहरण कर ले आए थे। उन्होंने इन कन्याओं का अपहरण किया था केवल अपने शौर्य के प्रदर्शन के लिए, क्योंकि उन्होंने तो आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी। लेकिन ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद भी जब वे स्वयंवर सभा में पहुँचे तो, राजाओं ने उनको व्यंग भरी दृष्टि

से देखा कि इनका यहाँ क्या काम? क्या अब इनका विचार बदल गया है और ये विवाह करने आए हैं? फिर किसी राजा ने कटाक्ष भी कर दिया—अरे विवाह न करने की इनकी प्रतिज्ञा कोई त्याग की वृत्ति थोड़े ही है, वह तो इनकी असमर्थता का परिचायक है। बस इतना सुनते ही भीष्म को रोष आ गया कि ये लोग मुझे क्या समझते हैं? तीव्र आक्रोश में उन्होंने राजाओं से कह दिया—मैं तीनों कन्याओं का अपहरण कर रहा हूँ, जिसमें सामर्थ्य हो मेरा सामना करे। किसी राजा में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि भीष्म का सामना कर पाता। भीष्म तीनों कन्याओं का अपहरण करके ले आए। पर उन्हें विवाह तो करना नहीं था, इसलिए दो कन्याओं का विवाह तो उन्होंने अपने दो भाइयों से कर दिया, पर तीसरी कन्या ने हठ किया कि आपने मेरा हरण किया है सो आपको ही मुझसे विवाह करना होगा। भीष्म ने कहा कि यह तो असम्भव है, मैं तो पिता के समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, विवाह नहीं करूंगा। कन्या ने कहा—यदि आपका ऐसा ही संकल्प था तो फिर आपको मेरा जीवन नष्ट करने का क्या अधिकार था? भीष्म ने कहा जो चाहो कह लो, पर अब तो मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। तो वह कन्या परशुराम के पास गई और बोली—भीष्म आपके शिष्य हैं। आप अपने शिष्य से कहें कि वे मुझे स्वीकार करें, मेरा जीवन बरबाद न करें। परशुरामजी आये और उन्होंने भीष्म को आदेश दिया कि तुम इससे विवाह करो। लेकिन भीष्म ने कहा—नहीं कर सकता,मेरे लिए यह असम्भव है। परशुराम जी को क्रोध आ गया। वे बोले—मैं तुम्हें दण्ड दूँगा। तब गुरु और शिष्य में ठन गई, शस्त्र निकल गये, धनुष पर बाण चढ़ गये। कथा है कि अट्ठाईस दिन तक दोनों लड़ते रहे और उनके अस्त्र-शस्त्रों के आघात प्रत्याघात से संसार जलने लगा। तब देवता और मुनि उन्हें मनाने आये कि आप लोग अपने-अपने शस्त्र वापस ले लें। लेकिन भीष्म ने उस समय भी यही कहा कि मैं अपना शस्त्र पहले वापस नहीं लूंगा, परशुराम जी को ही पहले अपना शस्त्र वापस लेना होगा। भीष्म के मन में यह संस्कार बैठा हुआ था कि 'मैं क्षत्रिय हूँ, ऐसा कैसे कर सकता हूँ? परिणाम यह हुआ कि देवता और मुनियों ने परशुराम जी को ही मनाया कि आप ही कृपया अपने शस्त्र वापस ले लें। परशुराम जी ने अपने शस्त्र वापस ले तो लिए परन्तु उनके मन पर इसकी प्रतिक्रिया कुछ अच्छी नहीं हुई, क्योंकि इसके बाद ही उन्होंने संकल्प कर लिया कि भविष्य में वे कभी किसी क्षत्रिय को शिष्य नहीं बनाएँगे। इसलिए बेचारे कर्ण को झूठ बोलकर उनसे शस्त्र-विद्या सीखनी पड़ी। यहाँ पर भी यही दिखाई देता है कि दो व्यक्तियों की टकराहट में जात्याभिमान प्रकट हो गया और विद्वेष की सृष्टि हुई।

अब भगवान राम के जीवन में क्या दिखाई देता है? वहाँ न जाति की सीमा है और न संकीर्णता। वहाँ तो परिपूर्णता है। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भगवान राम ने क्षत्रिय जाति में जन्म लिया था। परशुराम जी ने अब तक कई बार क्षत्रिय जाति को दण्डित किया है। भगवान राम कह सकते थे कि क्षत्रिय के रूप में मैं इसका बदला लूंगा। मैं भी आपको दण्ड दूँगा। लेकिन यदि ऐसा होता तो फिर से एक अहं की दूसरे से टकराहट हो जाती। पर भगवान राम न तो जाति की सीमा में आबद्ध थे और न अहं की। उन्होंने परशुराम जी से पूछ लिया—आप क्या चाहते हैं? परशुराम जी ने कहा—तुम मुझसे युद्ध करो—क्यों, महाराज युद्ध से क्या होगा? यही न कि जो सबल होगा वह जीतेगा और दूसरा हारेगा। भगवान राम ने पूछा—तो आप युद्ध में विजय ही तो चाहते हैं। पर इसके लिए युद्ध की क्या आवश्यकता—

> सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
> छमहु बिप्र अपराध हमारे॥ १/२८२/८
> हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
> कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
> राम मात्र लघु नाम हमारा।
> परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
> देव एकु गुनु धनुष हमारे।
> नव गुन परम पुनीत तुम्हारे॥ १/२८२/५-७

"हे विप्र, हम तो सब प्रकार से आपसे हारे हुए हैं, आप हमारे अपराधों को क्षमा करें। हे नाथ, हमारी और आपकी बराबरी कैसी? भला कहाँ आपके चरण और कहाँ मेरा मस्तक? कहाँ तो मेरा मेरा छोटा-सा 'राम' मात्र नाम और कहाँ आपका परशु सहित बड़ा नाम? हे देव! हमारे धनुष में तो बस एक ही डोरी है और आपके परम पवित्र धनुष में नौ डोरियाँ हैं।" भगवान् श्री राघवेन्द्र ने अपने आपको न तो किसी जाति की और न ही किसी वर्ण की सीमा में बाँधा। बड़ी अनोखी बात है बड़ा बनने की चेष्टा करने वाला छोटा बन गया और छोटा बनने वाला बड़ा। परशुराम कहते हैं—मैं बड़ा हूं और राम कहते हैं—मैं छोटा हूं। लेकिन बात उलट गई। बाद में परशुराम जी हाथ जोड़कर श्री राम की स्तुति करने लगे। उनका वर्णाभिमान मिटा होगा, तभी तो उन्होंने स्तुति की होगी। जाति-वर्ण की सीमा टूट गई। पूर्ण के सामने अपूर्णता दूर हो गयी। गोस्वामी जी कहते हैं—

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम अमात ॥ १/२८४

—"तब उन्हें राम का प्रभाव ज्ञात हुआ, प्रेम मानो हृदय में अँट नहीं रहा था और पुलकित शरीर से हाथ जोड़कर बोले। तब परशुराम जी के मुख से पहला शब्द क्या निकला? जय रघुवंश! सुननेवाले तो चौंक पड़े? सर्वदा भृगुवंश की जय बोलने वाले आज रघुवंश की जय कैसे बोलने लगे? परशुराम जी ने कहा—अब मैं समझ गया हूँ। पहले मैं समझता था कि मेरी विजय में—भृगुवंश की विजय में—ब्राह्मण की विजय में क्षत्रिय जाति की हार है। पर राम की विजय में सबकी विजय है, पराजय किसी की नहीं, यही उसकी विशेषता है। यह बड़े महत्त्व की बात है। जिस जीत में किसी की हार होगी। उसमें जीतने वाले को अहंकार होगा और हारने वाला बदला लेने की तैयारी करेगा। लेकिन जिनकी जीत में सबकी जीत है, उनके लिए परशुराम जी ने तो बार जय जय कहकर स्तुति की—

जय रघुबंस बनज बन भानू।
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी॥
जय मद मोह कोह भ्रम हारी।
जयति बचन रचना अति नागर॥
जय सरीर छबि कोटि अनंगा।
जय महेस मन मानस हंसा॥
कहि जय, जय, जय रघुकुल केतू।
भृगुपति गए बनहि तप हेतू॥ १/२८५/१-७

आरम्भ किया जय से और अन्त भी किया जय से। इस तरह उन्होंने नौ बार जय शब्द का प्रयोग किया। अभिप्राय यह है कि भगवान् राम ने परशुराम जी से कहा कि मैं तो आपसे हर प्रकार से छोटा हूँ। मुझमें तो केवल एक गुण है और आपमें तो ब्राह्मण होने के नाते—

नव गुन परम पुनीत तुम्हारे। १/२८२/७

—आपमें तो नौ गुण विद्यमान हैं। इसलिए परशुराम जी ने नौ बार जय शब्द का प्रयोग करके कहा—हे राम! ये नौ गुण मैं आपको ही अर्पित करता हूँ। अब मैंने समझ लिया कि इनका कोई महत्त्व नहीं और न अब इनकी कोई आवश्यकता ही है। इस तरह परशुराम जी ने अहं के द्वारा अपने व्यक्तित्व को जो ससीम बना लिया था, वह अब असीम में मिलकर एकाकार हो गया। उन्हें पराजय की अनुभूति क्यों नहीं हुई? हम स्वयं से थोड़े ही हारते हैं। जब कोई दूसरा हमें हरा देता है तब हमें हार की अनुभूति होती है। एक बड़ा

प्रसिद्ध वाक्य है—"अन्यत्रं जयमिच्छेत पुत्रादिच्छेत्पराजयम्"—दूसरों से जीतने की इच्छा रखे, पर अपने पुत्र से हार जाय तो बड़ी प्रसन्नता होती है। पुत्र अगर पिता की अपेक्षा अधिक पढ़ ले, अधिक ज्ञान प्राप्त कर ले, तो पिता को बड़ा सन्तोष होता है। क्यों होता है? अपनत्व के कारण। परायेपन की अनुभूति रही, तो वहाँ भी हार का बोध होगा और विद्वेष उत्पन्न होगा। परशुराम जी का व्यक्तित्व जिस अहं से उबर नहीं पा रहा था, उससे भगवान् राम ने उन्हें उबारा। और ममता? वह भी उसी अहं से जुड़ी हुई थी, जिससे उबारा लक्ष्मण जी ने।

परशुराम जी क्रोध में भरे हुए हैं। लक्ष्मण जी सामने आते हैं। और ऐसा बढ़िया निदान करते हैं कि रोग सीधे पकड़ में आ जाता है। इस बात पर न जायँ कि कौन किस जाति का है। यह भी न देखें कि किसकी अवस्था कितनी है, कौन छोटा है और कौन बड़ा। कई लोग तो यह कहने लगते हैं कि लक्ष्मण जी इतनी छोटी अवस्था के थे और परशुराम जी इतने वयोवृद्ध, लक्ष्मण जी को उनसे ऐसा नहीं बोलना चाहिए था। यहाँ पर अवस्था की दृष्टि से नहीं विचार की दृष्टि से देखिए। लक्ष्मण जी ने परशुराम जी की अपेक्षा अधिक परिपक्वता का परिचय दिया है। उन्होंने कहा—आपकी समस्या यहाँ है और उसका समाधान आप कहीं और ढूँढ़ रहे हैं। परशुराम जी क्रोध में भरे हुए हैं। लक्ष्मण जी पूछते हैं—आपको क्रोध क्यों आ रहा है? तब वे कहते हैं—मेरे गुरुदेव का धनुष टूट गया, इसका मुझे बड़ा दुःख है। लक्ष्मण जी ने कहा—नहीं महाराज, आपके दुःख का कारण यह नहीं है। क्यों? क्योंकि विश्व के इतिहास में क्या यह पहली बार धनुष टूटा है? बचपन में जब हम श्री राघवेन्द्र सहित चारों भाई खेला करते थे, तो रोज कोई-न-कोई धनुष तोड़ते ही रहते थे, पर आप तो कभी यह कहने नहीं आये कि धनुष क्यों तोड़ा? वह भी तो धनुष ही था। उसका टूटना क्या टूटना नहीं था? यह जीवन का एक बड़ा महत्वपूर्ण सत्य है। हम मृत्यु पर दुःखी होते हैं। पर मृत्यु तो सारे संसार में हर समय किसी-न-किसी की होती ही रहती है। पर क्या हम प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु पर दुःखी होते है? अगर होते भी हैं तो केवल व्यवहार की दृष्टि से दिखावे भर के लिए ही। लक्ष्मण जी यह स्पष्ट कर देते हैं कि वस्तुतः परशुराम जी को दुःख धनुष टूटने का नहीं था। उन्होंने कह दिया—

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। १/२७१/७-८

—"बचपन में तो हमने कितने ही धनुष तोड़े, पर कभी आपको ऐसा क्रोध नहीं आया। इस धनुष के प्रति आपकी ममता का क्या कारण है?" उनका अभिप्राय यह था—महाराज, वस्तुतः आपको दुःख यह धनुष नहीं, आपकी ममता दे रही है। लक्ष्मण जी के एक-एक शब्द बड़े सार्थक हैं। एहि, धनु, ममता, केहि हेतू—इन चार शब्दों की अर्थ-गरिमा पर विचार करें। लक्ष्मण जो कहते हैं—महाराज! पहली बात तो यह है कि ज्ञान की दृष्टि से तो आपमें ममता होनी ही नहीं चाहिए। और अगर यह मान भी लिया जाय कि व्यवहार की दृष्टि से कुछ-न-कुछ ममता तो रखनी ही पड़ती है, तो वह अधिकार भी आपको नहीं है। क्योंकि न तो आपने विवाह किया, न गृहस्थ हुए और न सत्ता ही स्वीकार की। आप तो बाल-ब्रह्मचारी, सर्वत्यागी महात्मा हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में इतना त्याग हो उनमें ममता का न होना हो स्वाभाविक लगता है और आपके चरित्र के लिए भी यह अनुकूल होता! लेकिन यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इतना त्याग करने के बाद भी आपने अपने जीवन में ममता को रहने दिया। फिर वे व्यंग्य करते हुए बोले—और आपने ममता रखी भी तो किस पर? 'एहि धनु पर' इस धनुष पर? तो ममता के लिए क्या यह धनुष ही बचा था? आप देख ही रहे हैं कि यह टूटा हुआ पड़ा है, खण्डित है अर्थात् यह परिणामी, ससीम और अनित्य है। एक तो ममता होनी ही नहीं चाहिए थी और यदि आपको ममता जोड़नी ही थी तो आपके सामने खण्ड और अखण्ड दोनों थे। एक ओर तो खण्डित धनुष पड़ी है—

प्रभु दोउ चापखण्ड महि डारे ॥ १/२६२/१

और दूसरी ओर अखंड ज्ञानघन श्री राम खड़े हैं—

ग्यान अखंड एक सीताबर ॥ ७/७८/२

लक्ष्मण जी का तात्पर्य यह था कि ममता करनी ही थी तो किस पर की जाय इसका विवेकपूर्ण चुनाव तो कर लेना था।

गोस्वामी जी दोहावली रामायण में कहते हैं कि एक तो जहाँ ममता हो वहाँ से मन को हटा लेना चाहिए और ऐसा न हो सके तो क्या उपाय है—

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु ॥ ७६

—या तो ममता राम पर करो या ममता का त्याग करो। तात्पर्य यह है कि ममता अगर ससीम पर होगी तो उसके खण्डित होने पर वह दुख देगी। भले ही वह प्रारम्भ में सुख दे, पर बाद में दुख दिए बिना नहीं रहेगी। लेकिन यदि हमारी ममता का केन्द्र नित्य होगा, अखण्ड होगा, तो वह हमारे जीवन में केवल सुख की सृष्टि करेगी, दुख की कभी नहीं। इसलिए श्री लक्ष्मण परशुराम

जी से कहते हैं,—'एहि धनु'—उनका यह शब्द बड़े महत्त्व का है। कहते हैं—महाराज, यह धनुष तो आप देख ही रहे हैं, टूटा हुआ पड़ा है। इसका अर्थ तो यही हुआ कि आपने अपने मन में यह मान लिया था कि यह धनुष कभी नहीं टूटेगा, कभी नहीं मिटेगा। यह आपकी भ्रान्ति थी। कोई वस्तु बहुत दिनों तक टिकती है तो कोई जल्दी नष्ट हो जाती है। यह धनुष बहुत दिनों तक टिका तो लोगों को भ्रम हो गया कि अब यह कभी विनष्ट नहीं होगा। पर यह काल तो सत्य है। और लक्ष्मण जी कौन हैं? ये तो स्वयं काल हैं और वैराग्य ही इनकी भूमिका है। एक ओर—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर ॥ २/३२१

—"भाई लक्ष्मण और श्री सीता जी सहित प्रभु श्री राम पर्णकुटी में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो वैराग्य, भक्ति और ज्ञान शरीर धारण करके सुशोभित हो रहे हों।" और दूसरी ओर वे शेष जी के रूप में भगवान की शैय्या के रूप में काल के प्रतीक हैं। काल के सत्य पर दृष्टि जाते ही वैराग्य का उदय होता है और वैराग्य से ही ममता की निवृत्ति होती है। इस प्रकार भगवान राम ने अखण्ड-ज्ञान के रूप में परशुराम जी को अहंता से निवृत्त किया और कालरूप लक्ष्मण जी ने वैराग्य की भूमिका द्वारा उन्हें ममता से मुक्त होने की प्रेरणा दी। काल के सत्य को दिखला दिया। उनकी भ्रान्ति दूर कर दी और साथ ही व्यंग्य करते हुए पूछ लिया—"एहि धनु"—यह धनुष किसका है? भगवान शंकर का। उन्होंने यह धनुष किसे दिया था? जनक जी को। तो लक्ष्मण जी ने पूछा—महाराज। धनुष तो शंकर जी का है। उसके टूटने पर क्रोध तो उनको आना चाहिए था। उन्होंने धनुष जनक जी को दिया था, तो क्रोध जनक जी को आना चाहिए था। पर आप जरा जाकर शंकर जी को देखिए, वे तो प्रसन्नता से नाच रहे हैं। जनक जी का मुखमण्डल भी आनन्द से उत्फुल्ल है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि जिस धनुष से आपको कुछ भी लेना-देना नहीं, न तो वह आपका है, न आपको दिया गया है और न ही आपसे उसका कोई सम्बन्ध है; उससे आपने ममता क्यों जोड़ ली? अपने को उससे जोड़ते समय आपको यह भी तो देखना था कि क्या इसके पीछे कोई युक्तिसंगत हेतु है? क्या उसमें आपका कोई साझा है? इसमें शंकर जी और जनक जी का साझा तो हो सकता है, पर आपका क्या है? किसी ने शंकर जी को बताया कि आपका धनुष टूट गया। शंकर जी ने मुस्कराकर कहा कि मेरा धनुष कहाँ, उसे तो मैंने जनक को दे दिया था। टूटा तो जनक

का धनुष टूटा, मेरा क्या ? और जब जनक जी से कहा गया—महाराज धनुष टूट गया ! तो वे बोले—इसी के लिए तो मैंने स्वयं प्रार्थना की थी।

ऐसी प्रार्थना करनेवाले तो संसार में अगणित लोग हैं, जो अपने अभिमान की रक्षा के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं। पर सच्चे ज्ञानी तो जनक ही थे जो प्रार्थना करके अभिमान को तुड़वाना चाहते थे। जो अपने अभिमान को तोड़ने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर सके, वही तो धन्य है। लक्ष्मण जी का तात्पर्य यह था कि भगवान शंकर और तत्वज्ञ जनक ने जिससे ममता हटा ली थी, उसी से परशुराम जी ने जोड़ ली।

भगवान श्री राम और लक्ष्मण जी से परशुराम जी का यह संवाद अहंता और ममता से त्याग का प्रसंग है। सचमुच परशुराम जी ने अपनी अहंता और ममता का त्याग करके दिखाया। उन्होंने भगवान राम और लक्ष्मण को अर्थात् ज्ञान और वैराग्य को पहचान लिया और अपने जीवन में उसे स्वीकार किया। ज्ञान और वैराग्य के प्रतिष्ठित होते ही उनकी अहंता और ममता दूर हो गई और आगे चलकर उन्होंने ममता को यहाँ तक त्याग दिया कि टूटे हुए धनुष से ममता की तो बात ही क्या—अपने कन्धे पर जो भगवान विष्णु का धनुष था, उससे भी उन्होंने अपनी ममता हटा ली और उसे उतारकर भगवान राम से कहते हैं—उसे तो आपने खण्डित कर ही दिया, अब इसे खींच लीजिए—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खेंचहु मिटै मोर संदेहू ।।
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ ।। १/२८३/७-८
जाना राम प्रभाव तब
पुलक प्रफुल्लित गात। १/२८४

अहंता और ममता दोनों के विनष्ट हो जाने पर परशुराम जी सुखी और सन्तुष्ट हो गये। पराजय की वृत्ति का निवारण हो गया। इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन के सुख और दुख दोनों का सम्बन्ध ममता से है। जब हम किसी वस्तु से या व्यक्ति से अपनी ममता जोड़ लेते हैं और प्रायः अनित्य पदार्थों से, तो हमें जीवन में कभी न कभी दुखी होना ही पड़ता है। इस तरह गोस्वामी जी ने अहंता और ममता के सन्दर्भ में एक पक्ष यहाँ प्रस्तुत किया। दूसरा पक्ष वे हनुमान जी और रावण के संवाद के प्रसंग में दिखायेंगे।

□

प्रवचन-८

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में मानस रोगों की तुलना आयुर्वेद की पद्धति से शरीर के रोगों के साथ करते हुए उनका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसी संदर्भ में पिछले प्रवचन में ममता रूपी दद्रु की चर्चा प्रारम्भ की गई थी। समस्त मानस रोगों के प्रसंग में यह बड़ा विचित्र सा प्रतीत होता है कि अन्य जिन रोगों के नाम लिए गये हैं, वे सब मनुष्य के मन में आतंक और भय की सृष्टि करते हैं। जैसे कि सन्निपात का नाम सुनकर ही व्यक्ति आतंकित हो जाता है। ज्वर का नाम सुनकर व्यक्ति संत्रस्त हो जाता है। जब राजयक्ष्मा का नाम लिया जाता है तो उसके द्वारा भी एक भीषण रोग की कल्पना होती है। कुटिलता और दुष्टता को वे कोढ़ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। तो ये सारे रोग मनुष्य के मन में भयानक आतंक की सृष्टि करते हैं। परन्तु ममता की तुलना जिस रोग से की गई है, वह ऐसा नहीं है। जो व्यक्ति के मन में कोई बहुत बड़े आतंक या भय की सृष्टि करे। व्यक्ति बहुधा उसे साधारण रोग ही समझता है और वह है दद्रु या दाद। गोस्वामी जी ममता की तुलना दद्रु से करते हैं। इसमें एक सूक्ष्म संकेत है। व्यक्ति के मन में प्रायः ममता विद्यमान रहती है पर उसे नहीं लगता कि यह कोई बुरी वस्तु है। बल्कि इसे तो सारे व्यवहार की जड़ ही मानता है। परन्तु इसका जो दूसरा पक्ष है, वह व्यक्ति के जीवन में समस्याएँ उत्पन्न करता है और वह बड़ा कठिन पक्ष है।

दाद एक विचित्र रोग है। उसकी एक विशेष प्रकृति है। जिन लोगों को यह रोग होता है, उन्हें लगता है कि दवा के द्वारा तत्काल आराम मिल गया पर उन्हें यह भी अनुभव होगा कि यह बार-बार लौट आता है। कुछ दिन बाद फिर प्रकट हो जाता है। ममता की प्रकृति भी ठीक ऐसी ही है और यह सर्वाधिक चिरस्थायी रोग है। पर समाज में इसके प्रति कोई घृणा नहीं है, उतनी निन्दा की वृत्ति नहीं है जितनी अन्य दुर्गुणों के प्रति है। ममता जन-जीवन में बड़ी व्यापक रूप में बैठी हुई है। इसे दूर कर पाना सरल नहीं है। भले ही वह साधारण रोग प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इसी-लिए इस प्रसंग में गोस्वामी जी ने ममता की तुलना दाद से की है। लेकिन इसकी विचित्रता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्होंने इसे अन्य प्रसंगों में कई रूप में प्रस्तुत किया है। एक प्रसंग में वे कहते हैं कि ममता अँधेरी रात है, और दूसरे प्रसंग में कहते हैं कि यह बन्धन है। फिर तीसरे

प्रसंग में वे कहते हैं कि ममता मल है। ये बड़े कठोर निन्दा के शब्द हैं। परन्तु गोस्वामी जी ऐसा भी मानते हैं कि ममता का अन्त में विनाश होता है। उनका एक प्रसिद्ध पद है, जिसे भक्त बहुधा गाते हैं। गोस्वामी जी व्याकुल होकर बड़े ही निराशा भरे स्वर में गाते हैं—

'ममता तू न गई मेरे मन ते।'

—सब तो चला गया पर अरी ममता, तूने अभी तक मेरे मन का परित्याग नहीं किया। तू अभी भी बनी हुई है। और मानस में वे कहते हैं—

ममता तरुन तमी अँधियारी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं।
जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥ ५/४७/३-४

—"ममता पूर्ण अँधेरी रात है, जो रागद्वेष रूपी उलूक को सुख देने वाली है। वह तभी तक जीव के मन में बसती है जब तक प्रभु के प्रतापरूपी सूर्य का उदय नहीं होता।"

यहाँ पर ममता और उसके निराकरण की पद्धति की ओर संकेत किया गया है। और ममता को जब बन्धन कहा, तब भी उस बन्धन के सदुपयोग की ओर संकेत करते हुए बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही गई। ममता की तुलना की गई धागे से। व्यक्ति के जीवन में यह एक विचित्र विडम्बना है कि जैसे कि हम किसी व्यक्ति को रस्सी से बाँध दें, तो उस व्यक्ति के लिए छूटना कठिन है। लेकिन कोई पतला-सा धागा लेकर किसी को बाँधने की चेष्टा करें, तो वह अपनी ओर से भले ही संतोष करे कि मैं इसे बाँध रहा हूँ, परन्तु धागे के बंधने पर क्या कभी कोई व्यक्ति रुका है? सुन्दरकाण्ड में विभीषण जी के प्रसंग में यह बात आती है कि हम लोगों की ममता धागों की तरह बिखरी हुई है; और उसके एक एक धागे में हम एक-एक व्यक्ति को बाँधने की चेष्टा कर रहे हैं। जिससे भी हम ममता करते हैं, हम चाहते हैं कि वह हमारे बन्धन में पड़ा रहे। लेकिन परिणाम क्या होता है? स्पष्ट दिखाई देता है कि पुत्र को पिता बन्धन में बाँधना चाहता है। पति को पत्नी बन्धन में बाँधना चाहती है। पति-पत्नी दोनों एक दूसरे को बन्धन में बाँधना चाहते हैं। पर ममता इतनी बिखरी हुई है कि व्यक्ति किसी को भी पूरी तरह से अपने वश में नहीं कर पाता। और तब उसे बड़ी निराशा होती है। जिससे उसको ममता है उससे उसे हमेशा अपेक्षा रहती है कि वह उसके इच्छानुसार चले। और जब वह उसके इच्छानुसार नहीं चलता तो उसे बड़ा आघात लगता है, दुःख होता है। इसीलिए सुन्दर काण्ड में कहा गया कि ममता यदि रात्रि है, तो इस अँधेरी

रात्रि को दूर करने के लिए भगवान राम के प्रताप का रवि जब हृदय में उदित होता है और तब यह ममतारूपी अंधकार दूर होता है।

ममता के इन दोनों रूपों का संकेत विभीषण के ही सन्दर्भ में किया गया है। विभीषण लंका से आये हुए हैं और यहाँ तात्पर्य यह है कि अब तक लंका में उन्हें बाँध रखने वाला यदि कोई बन्धन उनके जीवन में बचा था तो, वह केवल ममता का बंधन ही था। उनके जीवन में अहंता नहीं है। तीव्र अहं का अस्तित्व विभीषण के जीवन में कभी नहीं है। न कहीं पढ़ने में आता न सुनने में। परन्तु अहंता से मुक्त होने पर भी ममता के संस्कार उनमें विद्यमान हैं। और उस ममता के संस्कार से जब तक वे मुक्त नहीं हुए तब तक भगवान की शरण में नहीं आये। और ममता से मुक्त होकर जैसे ही वे भगवान राम की शरण में आते हैं तो प्रभु उन्हें देखते ही पूछ बैठते हैं—

कहु लंकेस सहित परिवारा।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥
खल मंडली बसहु दिनु राती।
सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥ ५/४६/४-५

—"हे लंकेश, परिवार सहित अपनी कुशलता कहो। तुम्हारा निवास बुरी जगह पर है। दिन-रात दुष्टों के बीच में रहते हो: मित्र, तुम्हारा धर्म कैसे निभता है?"

विभीषण ने बड़ा सार्थक उत्तर दिया। उन्होंने कहा—"महाराज, यह प्रश्न भूतकाल के संदर्भ में है या वर्तमान के? यदि भूतकाल के संदर्भ में है तो फिर लंका में रहकर कुशलता की कल्पना करना ही व्यर्थ है। वहाँ भला कुशलता कैसी?" कबीरदास जी से किसी ने पूछ दिया—"कहिए, कुशल तो है?" तो उन्होंने फटकारते हुए कहा—"यह व्यर्थ का प्रश्न और व्यर्थ का उत्तर है, बुद्धि की विडम्बना मात्र है।" दो व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं और एक पूछता है—"कहिए, कुशल से तो हैं?" सामने वाला व्यक्ति भी कह देता है "आपकी कृपा से या भगवान की कृपा से कुशल हूँ।" कबीरदास जी कहते हैं कि यह तो निरर्थक उत्तर है। इस संसार में भी भला कोई कुशल से रह सकता है? अरे भाई—

कुसल कुसल ही के करत
जग में बचा न कोय।
माया मुइ न मन मुवा
कुसल कहाँ ते होय।

—जब तक माया और मन दोनों विद्यमान हैं तब तक कुशलता कहाँ? विभी-

षण ने भी यही कहा कि महाराज, जहाँ तक भूतकाल का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो मेरे जीवन में कुशलता का प्रश्न ही नहीं है। लंका के दुर्गुणों-दुर्विचारों और काम-क्रोध-लोभ मोह आदि दुर्वित्तियों में भी व्यक्ति कुशल से होगा, ऐसी क्या कल्पना भी की जा सकती है? ऐसा तो कभी संभव ही नहीं है। उन्होंने कहा—लेकिन महाराज, अब वह स्थिति नहीं है। अब मैं कुशल हूँ। यह अन्तर कैसे आ गया?

अब मैं कुसल मिटे भय भारे।
देखि राम पद कमल तुम्हारे॥ ५/४७/५

"हे प्रभो, आपके चरण कमल का दर्शन कर अब मैं कुशल हूँ, मेरे विषम भय दूर हो गये।" जब विभीषण का भगवान् श्री राम से साक्षात्कार हुआ तब ममता के संदर्भ में उन्होंने दो बातें कहीं।

प्रभो, अभी तक तो मैं लंका में था और ममता की अँधेरी रात ही मेरे अन्तःकरण में विद्यमान थी। ममता की उस अँधेरी रात में मैं समझता तो यही था कि मैं देख रहा हूँ, पर वस्तुतः मैं वास्तविकता को देख नहीं पा रहा था। इसका अभिप्राय क्या है? लंका में रावण के द्वारा जो कार्य हो रहे थे, वे तो सब मेरी आँखों के सामने ही हो रहे थे या यह कहना चाहिए कि रावण के सारे कार्य मुझे दिखाई दे रहे थे। पर रावण के कार्य अगर मुझे सचमुच सही अर्थों में दिखाई दे रहे होते तो क्या इतने दिनों तक मैं लंका में रह पाता? इसका अर्थ तो यही है कि मैं लंका में रहते हुए उस ममता की अँधेरी रात में राग की दृष्टि से देख रहा था। वह राग की दृष्टि थी। व्यक्ति जब राग की दृष्टि से देखता है तब उसे सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, बल्कि इसकी प्रकृति उल्टी है। उलूक रात्रि में तो देखता है पर दिन में उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता। जिस व्यक्ति को राग और द्वेष की दृष्टि से मोह की अँधेरी रात में ही दिखाई दे और ईश्वर का प्रकाश न दिखाई दे, तो इससे बढ़कर उसका दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? पर विभीषण जी ने कहा कि उस ममता की अँधेरी रात्रि में अब आपके प्रताप का रवि मेरे अन्तःकरण में उदित हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब मेरे अन्तःकरण में ममता की अँधेरी रात मिट गई है और मैं आपके चरणों में आ सका हूँ। अब मोह और ममता की अँधेरी रात में निद्रामग्न नहीं हूँ।

अब भगवान् राम ममता के उस पक्ष की ओर संकेत करते हैं, जहां पर ममता बन्धन का रूप लिये हुए हैं। विभीषण ने तो ममता को अँधेरी रात के रूप में प्रस्तुत किया पर भगवान् राम ममता की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विभीषण, मेरी दृष्टि में ममता पतले धागों की तरह है। और ये पतले धागे

बिखरे हुए हैं। वास्तव में ममता को इतनी हेय दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति इस ममता का सदुपयोग कर सकता है। भगवान् राम ने बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कही। यदि व्यक्ति से यह कह दिया जाय कि तुम ममताशून्य हो जाओ, तब तो उसका अन्तःकरण नीरस हो जाएगा। क्योंकि व्यक्ति में रस लेने की जो प्रकृति है, वह तो ममता से जुड़ी हुई है। ममता की इसी प्रवृत्ति को—इन सब बिखरे हुए धागों को अगर एक साथ एकत्र कर दिया जाय तो वे ही धागे रस्सी के रूप में परिणत हो जाएँगे। और तब उस रस्सी से किसे बाँधेंगे? भगवान् राम बड़े उदार हैं। यदि वे यह कहते कि फिर उस रस्सी से चाहे जिसको बाँधो तो और बात थी, पर उन्होंने दूसरों को बाँधने की बात नहीं कही। वे कहते हैं कि रस्सी से तुम चाहो तो मुझे भी बांध सकते हो। अपने बंधने का उपाय भगवान् स्वयं बता दे रहे हैं।

जननि जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृय परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ५/४८/४-५

—"माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र, परिवार इन सबके प्रति ममता के धागों को मिलाने से जो रस्सी बने, उसे मेरे चरणों में बांध दो।" इसका परिणाम क्या होगा? भगवान् कहते हैं कि मैं तुम्हारे ममता के बन्धन में बँध जाऊँगा। इसका अभिप्राय यह है कि मेरे पिता, मेरा पुत्र, मेरा भाई, मेरा परिवार, मेरी वस्तुएँ—ये सब ममता के धागे बिखरे हुए हैं। अब सब जगह से ममता हट गई तो बचा क्या? भक्त कवि दादू का एक बड़ा मधुर वाक्य है। उन्होंने भगवान् से कहा—महाराज, 'तन भी तेरा' यह शरीर भी मेरा नहीं है। 'मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान'—तन, मन, प्राण, यह सब आपका ही है। तो भगवान् ने कहा—यह तो तुम्हारी बड़ी उदारता है। अपने लिए कुछ तो रख लिया होता। तो दादू जी ने कहा—महाराज, मैं उदार बिल्कुल नहीं हूँ। अपने लिए भी एक बचा लिया है। उस एक को छोड़कर बाकी सब आपका है। दादू कहते हैं—

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ग्यान॥

—जो कुछ भी मेरा था वह सब अब आपका है, परन्तु आप मेरे हैं। बस यही ममत्व की सार्थकता है। यही है ईश्वर को अपनी ममता की डोर से बाँध लेना। अन्य जिन लोगों को हम अपनी ममता की डोर से बाँधना चाहते हैं, वे भागने की चेष्टा करते हैं, लेकिन ईश्वर तो इतने उदार हैं कि वे स्वयं बंध

जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। कहते हैं—उपाय मैं स्वयं बता दे रहा हूँ। तुम मुझे बाँध क्यों नहीं लेते ?

इस प्रकार रामायण के विविध प्रसंगों में ममता के विविध पक्षों की ओर इंगित किया गया है। गोस्वामी जी ने ज्ञानदीप के प्रसंग में ममता को मल बताते हुए इसकी बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की है। ज्ञानदीप-प्रसंग बुद्धि को शुद्ध करने की साधना का एक काव्यमय रूपक है। मनुष्य की बुद्धि अशुद्ध है, और अशुद्ध बुद्धि के द्वारा वह सही ढंग से सोच भी नहीं पाता। हमारे पास समझने का जो साधन है वह तो यह बुद्धि ही है। और वह है अशुद्ध। तो क्या करें ? उत्तर में कहा गया है कि पहले हम बुद्धि को शुद्ध करें। बुद्धि के शुद्ध होने पर जब हम सत्य को समझने की चेष्टा करेंगे, तभी सत्य को समझ पाएँगे। इसीलिए बुद्धि को शुद्ध करने की प्रक्रिया बड़ी सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत की गई। कहा गया—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। ७/११७/०९

इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति की बुद्धि में सबसे पहले श्रद्धा का उदय होना चाहिए। अगर बुद्धि श्रद्धाहीन होगी, तो व्यक्ति को अन्तःकरण में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होगी। श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान लाभ करता है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। (गीता ४/३९)

—व्यक्ति जब बुद्धिमान होता है तो उसमें अहंकार की सम्भावना होती है। वह यह मान बैठता है कि मुझसे बढ़कर बुद्धिमान कोई नहीं है। यह बुद्धि की एक बड़ी विचित्र प्रवृत्ति है। और श्रद्धा तो तभी होती है जब सामने वाले व्यक्ति में अपने से अधिक बुद्धिमत्ता देखते हैं। तो सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हमारी बुद्धि में श्रद्धावृत्ति आवे। हमारा अहंकार नष्ट हो जाए और हम सन्तों, महापुरुषों, गुरुजनों के प्रति, उनकी बुद्धि के प्रति श्रद्धावान बनें। अतः बुद्धि को शुद्ध करने के लिए पहला कार्य यह है कि हम श्रद्धावान बनें।

ज्ञानदीप-प्रसंग में गोस्वामी जी श्रद्धा की तुलना गाय से करते हुए क्रम से वर्णन करते हैं कि जैसे एक बहुत सुन्दर और अच्छी गाय हो, पर उसे चारा न खिलाया जाय तो वह दूध कहाँ से देगी ? इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में श्रद्धा तो हो, पर सत्कर्म न हो तो उस श्रद्धा से कोई लाभ नहीं होता। कई लोग बड़े श्रद्धालु तो दिखाई देते हैं लेकिन वे चाहते हैं कि महाराज ही सब कुछ कर देंगे, हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी श्रद्धा उन्हें निष्क्रिय बना देती है। श्रद्धा के साथ अगर निष्क्रियता आ गई तो इसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धा की गाय तो आ गई, पर सत्कर्म का चारा नहीं मिला। इसीलिए श्रद्धा के साथ जब सत्कर्म जुड़ेगा—

जप तप ब्रत जम नियम अपारा।
जो श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ ७/११७/१०

—असंख्य प्रकार के जप, तप, व्रत, यम नियमादि शुद्ध धर्म और आचारों की बात श्रुतियों ने कही है। श्रद्धारूपी गाय इन सत्कर्मों का चारा खाकर ही दूध देने के योग्य बनती है। आगे चलकर लिखा गया कि गाय दूध तो देती है पर बछड़े को देखकर। जब तक बछड़ा सामने नहीं होगा, जब तक उसका वात्सल्य नहीं उमड़ेगा और तब तक गाय के स्तन में दूध नहीं आयेगा। इसी प्रकार श्रद्धा और सत्कर्म के साथ-साथ 'भाव-बच्छ', भावना रूपी बछड़ा भी हो। अभिप्राय यह है कि श्रद्धा हो, सत्कर्म हो और सत्कर्म के साथ ही भावना भी जुड़ी हो। हमारा कर्म हमें बोझ न मालूम हो। कर्म में रसानुभूति हो, उसमें आनन्द की अनुभूति हो। और इसके साथ ही गोस्वामी जी यह भी कहते हैं कि इस बुद्धि की शुद्धता के साथ मन को भी जोड़ देना है। मन को जोड़ने का अभिप्राय यह है कि दूध दूहने का कार्य तो वह अहीर ही कर सकता है, जो दूध दूहने की कला में निपुण हो। यहाँ पर गोस्वामी जी एक बड़ी सार्थक बात कहते हैं कि अहीर तो सबके पास है। उन्होंने कहा कि मन ही वह अहीर है। तो सुनने वाले ने कहा कि कोई बात नहीं है, गाय, चारा, बछड़ा आदि तो लाना पड़ेगा, पर आपने जो अहीर बताया, वह तो हमारे पास ही है। इस पर गोस्वामी जी ने कहा कि इस अहीर से काम नहीं चलेगा। क्यों ? कई बार ऐसा होता है कि लोग ऐसे व्यक्ति को दूहने के लिए नियुक्त करते हैं, जो दस घरों में दूहने के लिए जाते हैं। उनको जब जहाँ जाने के लिए समय मिलता है तब वहाँ वह दूहने के लिए जाता है। और जिस दिन वह थक जाता है, उस दिन वह किसी बहाने दूहने भी नहीं जाता। इसलिए दूहने वाला अगर दस घरों में जाने वाला हो तो वह गाय को ठीक से दूह नहीं पाएगा। समय पर नहीं दूह पाएगा। इसलिए दूहने वाला ऐसा होना चाहिए जो एक ही घर में दूहे। हम लोगों का मन अहीर तो है, पर दस घरों में दूहता रहता है। इन दस इन्द्रियों को दूहने का इसका स्वभाव बन गया है। कभी आँख के पास, कभी कान के पास, कभी नाक के पास घूमता रहता है। यह जो मन की प्रवृत्ति है, उसके स्थान पर इसको ऐसा बनाना पड़ेगा कि यह चारों ओर भटकने के स्थान पर एक ही स्थान पर रहे और साथ ही—

निरमल मन अहीर निज दासा। ७/११७/१२

—निर्मल हो। दुहने वाले का हाथ अगर गन्दा हो तो दूध पवित्र होते हुए भी गन्दा हो जाएगा। इसी प्रकार से अगर मन में मल विद्यमान रहा तो हम जिस धर्म का दूध प्राप्त करेंगे वह भी मलिन हो जाएगा। इसीलिए मन निर्मल

हो और निर्मल होने के साथ 'निज दास' हो। निज दास का अभिप्राय यह है कि हमारा मन अनेक दिशाओं में भटकने वाला न हो। श्रद्धा हो, सत्कर्म हो, भावना हो, मन में पवित्रता और एकाग्रता हो, तब मनुष्य के अंतःकरण में अहिंसा की वृत्ति प्रतिष्ठित होगी। यही क्रम है। श्रद्धा की गाय, सत्कर्म का चारा, भाव का बछड़ा, निर्मल और एकाग्र मन का अहीर—इतना होने पर तब परम धर्म रूपी अहिंसा वृत्ति का दूध मिला, अहिंसा का उदय हुआ। पर अभी तो लंबी यात्रा बाकी है। इस अहिंसा के बदले में अगर हम यह चाहने लगें कि लोग हमारा सम्मान करें; हमें अहिंसा वृत्ति प्राप्त हो चुकी है, अतः लोग हमें महान समझें, तो यह अहिंसा का दूध पतला ही रह जाएगा और पतले दूध को जब हम आग पर चढ़ा कर औटाते हैं तो वह गाढ़ा हो जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि निष्कामता की आग पर इसको जरा गाढ़ा कीजिए। अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साथ व्यक्ति के अन्तःकरण में समग्र निष्कामता की वृत्ति का भी उदय हो। पर निष्कामता के साथ एक समस्या यह भी जुड़ी हुई है। निष्कामता की अग्नि से दूध में गाढ़ापन तो आ जाता है, पर उसके साथ गर्मी भी आ जाती है। निष्काम लोगों में कभी-कभी गर्मी बढ़ जाती है। स्वार्थी व्यक्ति विनम्र होता है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, उसके बदले में कुछ लेता है, पर बदले में जिसे कुछ भी नहीं चाहिए, वह थोड़ा उग्र हो जाता है। निष्कामता में यह वृत्ति अगर बनी रह गई तो काम नहीं बनेगा। इस वृत्ति को मिटाने के लिए उसे हवा से जरा ठंडा कीजिए। और वह हवा क्या है?

तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। ७/११७/१४

—संतोष की वायु से क्षमा की शीतलता ले आवे। और तब उस दूध को दही में परिणत करने के लिए क्या करना होगा? दूध को दही में परिणत करने के लिए उसमें थोड़ा सा दही जिसे जामन कहते हैं, डालना पड़ता है। अतः आपको कहीं न कहीं से थोड़ा सा दही खोजना पड़ेगा, तब वह दूध-दही में परिणत होगा। इसका अभिप्राय यह है कि जो धर्म-बुद्धि प्राप्त हुई, उसे मथने योग्य बनाने के लिए स्थिर करना होगा, दही के समान जमाना होगा। और उसे जमाने के लिए जामन कहाँ से मिलेगा? वह हमें मिलेगा किसी संत से, किसी महापुरुष से। क्योंकि जामन हमें उसी में मिलेगा जिसने अपने घर में दही जमा रखी हो। अतः वह जामन हमें संत-महापुरुष से ही मिलेगी। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जो चिन्तन करेगा, वह पूर्व के विचारों से जुड़ा हुआ होगा। यह गलत होगा यदि वह कहे कि हम बिना किसी आधार के स्वतंत्र चिन्तन कर लेंगे, स्वतन्त्र रूप से हम सब कुछ जान लेंगे। पूर्व के महा-

पुरुषों ने जैसा अनुभव किया है, वह जैसे साधक के अन्तःकरण में धृति के रूप में प्रतिस्थापित होता है, उसे गोस्वामी जी इस प्रकार कहते हैं—

धृति सम जावनु देइ जमावै ॥ ७/११७/१४

और जब दही जम जाती है तब प्रारम्भ होती है मन्थन की प्रक्रिया। यह मन्थन क्या है? विचार ही मन्थन है। यहाँ पर गोस्वामी जी सावधान कर देते हैं। कई लोग कहते हैं कि हम विचार करते हैं। ठीक है, पर आप विचार कहाँ कर रहे हैं? विचार तो रावण भी बहुत करता था—

रावन हृदयँ बिचारा...। ६/८८

पर यह विचार-मन्थन कहाँ हो रहा है। सती जी भगवान राम की परीक्षा लेने चलीं। शंकर जी ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—देखिए, आप परीक्षा लेने जा तो रही हैं, पर एक बात का ध्यान रखिएगा। क्या?

जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी ॥ १/५२/३

"विवेक-विचारपूर्वक तुम वही करना, जिसके द्वारा तुम्हारा मोह भ्रम दूर हो।"

और सती जी ने शंकर जी के इस निर्देश का पालन किया भी। क्योंकि अगले वाक्य में यही बताया गया है—

पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि...। १/५२

—सती जी ने विचार का आश्रय लिया। शंकर जी का उपदेश व्यर्थ क्यों गया? उसका कारण ज्ञानदीप के प्रसंग में बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया कि विचार तो मथानी है। मथानी चलाइए यह तो बिल्कुल ठीक है, लेकिन यह तो देख लीजिए कि आप मथानी चला कहाँ रहे हैं। आप पानी में मथानी चलाते रहिए, दिन-रात परिश्रम करते रहिए तो भी उस पानी से क्या मक्खन निकलेगा? नहीं। इसीलिए अन्तःकरण में यदि केवल पानी भरा हो तो फिर विचार-मंथन से क्या निकलेगा? और अगर वह पानी गंदा हो तो मन्थन से उभर कर गंदगी ही तो ऊपर आएगी। विचार करने का अधिकार कब प्राप्त होता है?

मुदिता मथै बिचार मथानी। ७/११७/१५

—श्रद्धा, सत्कर्म, सद्भावना, चित्तशुद्धि, निष्कामता, अहिंसा, निवृत्ति आदि इन समस्त वृत्तियों को एकत्रित कर जब व्यक्ति बुद्धि से विचार करने बैठता है, तब वह सही विचार करता है। और जहाँ मंथन के लिए ये सब सामग्री नहीं है, वहाँ विचार-मंथन तो व्यर्थ का श्रममात्र है। उसके सार तो कुछ निकलने का नहीं। सती जी ने विचार तो किया, पर वहाँ न श्रद्धा थी, न धर्म-

बुद्धि और न धृति—अतः उनके जीवन में विचार का परिणाम विपरीत निकला।

विचार तो कई लोग करते हैं। दावा भी करते हैं कि मैं बड़ा विचारक हूँ, बहुत विचार करता हूँ। पर यह कैसे पता चले कि वे विचार कहाँ करते हैं? जब उनके विचार का निष्कर्ष सामने आता है, तब पता चलता है कि उनका विचार-मंथन विषयवारि को ही मथ रहा है या परमधर्म के दही को। जब विचार का निष्कर्ष भोगों का ही समर्थन करने लगे तब समझ में आ जाता है कि वह विषयवारि को ही मथता रहा होगा। विचार के द्वारा विषय का मन्थन होगा तो वहाँ भोग ही निकलेगा, लेकिन जिसके जीवन में इस ज्ञानदीप की प्रक्रिया से बुद्धि शुद्ध हो चुकी हो, वह जब विचार करेगा, तब क्या प्रकट होगा?

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥ ६/११७/१६

—तब उसके जीवन में विमल वैराग्य का उदय होगा। हृदय में शान्ति, आनन्द और विश्राम की अनुभूति होगी। पर गोस्वामी जी कहते हैं कि बस अब एक सीढ़ी और बाकी है। यह अन्तिम प्रक्रिया पूरा करके पूर्ण विश्राम कीजिए। इतनी लम्बी प्रक्रिया के बाद अब और क्या बचा रह गया? गोस्वामी जी में सजगता की मानों पराकाष्ठा है। वे कहते हैं—विमल वैराग्य आ गया, मक्खन निकल आया, पर मक्खन में भी मठा का कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, जल भी कुछ-न-कुछ रहता ही है, थोड़ी-सी खटास भी रहती है। उस अवस्था में उस मक्खन से अगर कोई दिया जलावे तो उसमें थोड़ा जल का अंश विद्यमान होने के कारण दीपक ठीक से नहीं जल पाएगा। इसी प्रकार इस विमल वैराग्य में भी किंचित् अशुद्धता अवशिष्ट है। इस अशुद्धता के दूर होने पर शुद्ध ज्ञान का उदय होगा और इसी शुद्ध ज्ञान के द्वारा व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करेगा। वह अशुद्धता क्या है? गोस्वामी जी कहते हैं—

जोग-अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥ ७/११७

—"तब योग रूपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन लगा दें और जब वैराग्य रूपी मक्खन का ममता रूपी मल जल जाय, तब उस ज्ञान रूपी घृत को बुद्धि से शीतल करें।" इतनी लम्बी साधना के बाद जब अंतःकरण में श्रद्धा से लेकर विमल वैराग्य तक जहाँ अहिंसा आदि सब कुछ आ गया तब भी उसमें मल को खोज लेने वाली यह जो सूक्ष्म दृष्टि है, यह साधक के जीवन में अपेक्षित और बड़े महत्व की है। विमल वैराग्य में भी मल

का सन्धान, यह मल कोई वैसा मल नहीं है। शब्द है 'ममता' किसी ऐसे वैसे वस्तु से तो नहीं परन्तु अन्त में वैराग्य से भी तो ममता हो सकती है। यह अति सूक्ष्म मल जो सार वस्तु से भिन्न न होते हुए भी अन्ततः ज्ञानदीप की उपलब्धि में बाधक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्धज्ञान को अनावृत करने के लिए भौतिक वस्तुओं से ममता को काटने वाले वैराग्य के प्रति ही अगर ममता हो गई तो एक सूक्ष्म आवरण तो बना ही रहा। यद्यपि यह एक अत्यन्त उच्च अवस्था या एक प्रकार से समाधि की अवस्था है पर वहाँ भी ममता का एक संस्कार, एक सूक्ष्म पारदर्शी आवरण बना हुआ है, इसीलिए यह सविकल्प समाधि है। और इस सूक्ष्म आवरण के भी समाप्त हो जाने पर जब निर्विकल्प समाधि होगी, तब परम सत्य का साक्षात्कार होगा। अतः इस पथ की अंतिम और सबसे बड़ी प्रक्रिया यही है। समग्र जीवन से इस ममता को पूर्णतः निकाल देना है। समाधि के द्वारा इस ममता के विकल्प को भी मिटा देना है। तब कहीं मनुष्य के जीवन में पूर्णता आती है।

ममता को समाप्त करने की प्रक्रिया सबसे अधिक जटिल बतायी गयी है। एक प्रसंग में दोषों की गणना करते हुए गोस्वामी जी बताते हैं कि कौन-सा दोष आ जाने पर व्यक्ति कैसा बन जाता है। जैसे कि मोह हो जाने पर व्यक्ति कैसा हो जाता है? यह मोह क्या करता है? मोह व्यक्ति को अन्धा बना देता है और जब काम आता है, तब वह व्यक्ति को क्या बना देता है?

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही॥ ७/७०/७

—काम व्यक्ति को नचाता है। काम के प्रभाव से व्यक्ति नाचने लगता है। इसीलिए नारद ने जब यह कहा—"प्रभो, आप मुझे सुन्दर बना दीजिए।" तो प्रभु ने सोचा कि हम इन्हें सुन्दर बना दें कि बन्दर बना दें। प्रभु ने दूरदृष्टि से देख लिया कि अभी सुन्दर बना देंगे तो जीवन भर बन्दर बनकर नाचेगा और अभी बन्दर बना देंगे तो जीवन भर सुन्दर बना रहेगा। तो घण्टे-दो-घण्टे के लिए सुन्दर बनाकर बेचारे को जीवन भर के लिए बन्दर बना दें यह तो उचित नहीं होगा। जीवन भर के लिए बन्दर बन जाने का अर्थ क्या है? गोस्वामी जी कहते हैं—"को जग काम नचाव न जेही।" संसार में ऐसा कौन है जिसे काम ने न नचाया हो? और व्यंग्य करते हुए वे कलिधर्म के प्रसंग में कहते हैं—

नारि बिबस नर सकल गोसाईं।
नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥ ७/९९/१

—सभी मनुष्य नारियों के वश में हैं और मदारी के बन्दर की भाँति स्त्रियों के इशारों पर नाचते हैं। इस तरह अगर नारद जी का विवाह हो जाता तो वे जीवन भर बन्दर की तरह नाचते फिरते। इसके स्थान पर भगवान् ने कहा—चलो थोड़ी देर बन्दर बनकर जीवन भर बन्दर की तरह नाचने से बच जाओ। नारद जी ने कहा—महाराज आपने मुझे बन्दर क्यों बनाया ? भगवान् बोले—अरे भाई, तुम जा रहे थे काम के बन्दर बनने और हमने बना लिया तुम्हें अपना बन्दर। अब तुम्हें नचाना भी हो तो मेरे संकेत पर नाचो और भक्ति का तो लक्षण ही यही है कि भक्त भगवान् के संकेत पर नाचे। इस प्रकार मोह व्यक्ति को अन्धा कर देता है और काम व्यक्ति को नचाता है। और इसके बाद वे कहते हैं—

तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा।
केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा ॥ ७/७०/८

—तृष्णा ने किसे मतवाला नहीं बनाया और क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया ? इस प्रकार बड़ी लम्बी सूची दी गई है। अभी तो हम इन सबकी अलग-अलग व्याख्या नहीं कर पाएँगे। इसके बाद है—

ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार ॥ ७/७०

—संसार में ऐसा कौन ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, विद्वान और गुणी है, जिसकी लोभ ने विडम्बना न की हो। यह लोभ की विडम्बना बड़े-से-बड़े गुणवान व्यक्ति का भी पीछा नहीं छोड़ती। व्यक्ति लोभ की विडम्बना में पड़ा हुआ है। गोस्वामी जी के नाम पर एक बड़ा प्रसिद्ध छन्द है। उससे पूछा गया कि महाराज, वेदशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति शान्ति पा सकता है या नहीं ? तो इसके उत्तर में उन्होंने लोभ पर व्यंग्य करते हुए कहा—

बेद पुरान अनेक पढ़े।
बिगरे सब पेट उपायन में॥
निसिभोर भ्रमत चहुँ ओर फिरत।
नित बातन की चतुरायन में॥
दिनरात खुसामद पाजिन की।
अपनो परलोक नसायन में॥
तुलसी न, कहूँ आराम लख्यो।
आराम है राम के पायन में॥

यह है लोभ की विडम्बना और इस प्रसंग में भी आगे चलकर सन्निपात

की चर्चा की गई है। पर यह सन्निपात त्रिदोष-जन्य सन्निपात से भिन्न है। यह त्रिगुण जन्य है—

गुन कृत सन्यपात नहिं केही।
कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥ ७/७१/१

—सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के फलस्वरूप सन्निपात किसे नहीं हुआ ? और मानस-रोग के प्रसंग में—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्निपात दुखदाई ॥ ७/१२१/३०-३१

—यह त्रिदोषजन्य सन्निपात है। इन दोनों सन्निपातों में अन्तर है। बड़ा सूक्ष्म संकेत किया गया है। रावण के जीवन में भी सन्निपात हुआ है और नारद के जीवन में भी। रावण के जीवन में सन्निपात हुआ है काम-क्रोध-लोभ से ग्रस्त होने के कारण और नारद के जीवन में काम-क्रोध-लोभ को जीत लेने के कारण। सन्निपात ऐसे भी होता है—यह एक बड़ी विचित्र विडम्बना है। इसलिए इसको गुणकृत सन्निपात कहकर इसकी व्याख्या की गई है और इसी प्रसंग में गोस्वामी जी ने ममता को बड़े भयावह रूप में देखा और इसके लिए शब्द भी बड़ा भयानक चुना। यह मानसिक दुर्बलताओं के साथ जुड़कर कितना भयंकर परिणाम उत्पन्न करती है, इसकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

ममता केहि कर जस न नसावा। ७/७१/२

—संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके जीवन में ममता आकर उसके यश को नष्ट न कर देती हो, उस पर कलंक न लगा देती हो। यह ममता व्यक्ति के जीवन को कलंकित कर देती है। इस सन्दर्भ में अगर आप मानस के सारे चरित्रों पर, समस्त पात्रों पर विचार करें और मानस ही क्यों, महाभारत के पात्रों को भी लें, तो उन्हें हम और आप अपने वर्तमान जीवन के निकट पायेंगे और हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि जब हमारे अन्तर्मन में ममता का उदय होता है, तब हम ऐसे गलत ढंग से पक्षपात करने लगते हैं कि हमारी सारी विचारशीलता, सारी गुणज्ञता व्यर्थ हो जाती है और इस ममता तथा इसके द्वारा जनित पक्षपात के कारण हम श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति आदरदृष्टि नहीं रख पाते। ममता के इस भयंकरता को अगर हम और अधिक स्पष्ट रूप से देखना चाहें तो रामायण और महाभारत के दो ऐसे पात्र हैं जो बड़े यशस्वी थे, परन्तु ममता के कारण उनका यश नष्ट हो गया। रामायण से कैकेयी जी और

महाभारत में गान्धारी के चरित्र को लें। कैकेयी जी के जीवन में क्या समस्या है? गोस्वामी जी ने एक बड़ी विचित्र बात लिखी है। लंका-विजय के पश्चात् जब भगवान् श्री राम अयोध्या लौटे तो वे सबसे पहले कैकेयी जी के भवन में ही गये—

> प्रभु जानी कैकई लजानी।
> प्रथम तासु गृह गए भवानी॥
> ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा।
> पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥ ७/१०/१-२

—भगवान् शंकर बोले—हे भवानी, प्रभु ने जान लिया कि माता कैकेयी लज्जित हो गयी हैं। इसलिए वे पहले उन्हीं के महल में गये और उन्हें समझा-बुझाकर बहुत सुख दिया। फिर अपने महल को गये।"

रामराज्य बन गया लेकिन गोस्वामी जी गीतावली में एक बड़ी अद्‌भुत बात लिखते हैं कि कैकेयी जब तक जीवित रहीं तब तक भरत जी ने कभी भी उनको माँ कहकर नहीं पुकारा। पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। कैकेयी जी ने श्री राम को पा लिया। उन्होंने रामराज्य में सहयोग दिया। भगवान् राम ने कैकेयी जी की प्रशंसा की है। श्री लक्ष्मण तो कैकेयी जी के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हैं, पर श्री भरत जैसे उदार सहृदय व्यक्ति जीवन भर अपनी माँ को माँ कहकर न पुकारें, यह सुनकर तो बड़ा विचित्र-सा लगता है। लेकिन श्री भरत की भूमिका यहाँ पर एक वैद्य की भूमिका है। वे सजग हैं, जानते हैं कि कैकेयी का रोग क्या है और उसे पथ्य क्या देना है। ममता ही कैकेयी का रोग है। ममता दाद के समान है। दाद का गीलेपन से बड़ा सम्बन्ध है। व्यक्ति अगर दाद वाले अंग को बार-बार गीला करेगा, उसे ठीक से सुखाएगा नहीं तो वहाँ फिर से दाद हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी। अभिप्राय यह है कि व्यवहार में शुष्कता मिले तो ममता का गीलापन कम होगा और आर्द्रता मिले तो गीलापन बढ़ेगा। यही ममता की प्रकृति है।

कैकेयी जी बड़ी यशस्विनी थीं। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में उनकी सुन्दरता की कीर्ति फैली हुई थी। वे जितनी सुन्दर थीं, उतनी ही ओजस्विनी और तेजोमयी थीं। महाराज दशरथ जब युद्ध में जाते थे तब अन्य रानियाँ उनके साथ नहीं जाती थीं, पर कैकेयी जी रणक्षेत्र में भी उनका साथ देने के लिए जाती थीं। पति के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ अपनत्व दिखाई देता है। उनकी उदारता भी इतनी प्रसिद्ध थी कि सभी लोग यह कहा करते कि सौतिया डाह सभी में पाया जाता है, किन्तु कैकेयी जी इसकी अपवाद हैं—

> कबहुँ न कियहु सवति आरेसू।
> प्रीति प्रतीति जान सबु देसू॥ २/४६/७

इस तरह कैकेयी जी स्वभाव, शील, शौर्य और सौन्दर्य के लिए तो यशस्विनी थीं, पर यह अनर्थ क्यों हुआ? ममता के कारण। अगर उनके अन्तःकरण से यह एक चीज मिट गई होती, तो इतना बड़ा अनर्थ न हुआ होता। वे ममता के संस्कार को नहीं मिटा पाईं, इस बात को भूल नहीं पाईं कि भरत मेरा बेटा है। श्री राम उन्हें माँ कहकर पुकारते हैं। वे अपनी माँ से भी अधिक सम्मान कैकेयी को देते हैं, पर इतना होते हुए भी कैकेयी जी सोचती हैं कि अभी तो राम मेरे नकली बेटे हैं, अगले जन्म में तो हों तो हों। और अगले जन्म में भी कब होंगे? जब मेरे गर्भ से जन्म लेंगे तभी वे मेरे असली बेटे होंगे। यही कैकेयी जी असली की परिभाषा मानती थीं। उन्होंने मन्थरा से यही कहा कि मैं ब्रह्मा से प्रार्थना करती हूँ कि यदि मेरा अगला जन्म हो तो राम मेरे पुत्र हों। पर क्या कैकेयी जी का अगला जन्म हुआ? न उनका अगला जन्म हुआ और न राम उनके पुत्र बने। इसका तात्पर्य क्या हुआ? कैकेयी जी की इतनी पूजा और प्रार्थना का क्या हुआ? वह सब कहाँ गया? उनका फल क्यों नहीं मिला? यहीं पर कैकेयी जी और भगवान् श्री राम में मतभेद है। कैकेयी जी कहती हैं कि मेरा अगला जन्म हो और राम मेरे पुत्र बनें। किन्तु भगवान् राम कहते हैं कि माँ, यदि तुम्हारा अगला जन्म हो गया, तब तो मेरा ईश्वरत्व किसी काम नहीं आया। मेरे ईश्वरत्व से सबको संसार से मुक्ति मिल जाए और तुम्हें न मिले तो यह तो मेरे लिए कलंक की बात होगी और तुम यह जो कहती हो कि अगले जन्म में राम मेरा बेटा बने, तुम्हारा इतना स्नेह और मैं तुम्हें इतने दिनों तक प्रतीक्षा कराऊँ? अगले जन्म में तुम्हारा बेटा बनूँ तो तुम्हारी पूजा की क्या सार्थकता रह जाएगी? मुक्ति न मिले तो मेरी सार्थकता नहीं और तत्काल फल न मिले तो तुम्हारे पूजा की सार्थकता नहीं। भगवान् राम यह चाहते हैं कि कैकेयी जी यह समझ लें कि मैं उनका ही पुत्र हूँ। पर कैकेयी जी यह समझ नहीं पा रही हैं। शरीर को केन्द्र मानकर विचार करने के कारण उन्होंने यह मान लिया है कि राम मेरा बेटा नहीं है। वह जो मुझे माँ कहकर पुकारता है, वह तो एक भाव का नाता है। उसका जन्म मेरे गर्भ से नहीं हुआ है। मेरे गर्भ से भरत का जन्म हुआ है, इसलिए भरत ही मेरा वास्तविक पुत्र है, राम नहीं।

कभी-कभी भावराज्य की सत्यता और मिथ्यात्व की बात उठती है। भक्तों को भावराज्य में जो अनेक अनुभूतियाँ होती हैं, उसे लोग मन की कल्पना कहते हैं। उनकी मान्यता है कि जो वस्तु सबको आँखों से दिखाई नहीं

देती वह वास्तविक नहीं हो सकती। शरीर सत्य है, भाव कल्पित हैं। पर भक्तिशास्त्र की मान्यता है कि शरीर की तो एक सीमा है और उसकी दृष्टि-सामर्थ्य भी सीमित है, पर भाव असीम है और असीम के राज्य में तो भाव ही सत्य है। इसलिए भगवान् राम ने कैकेयी जी को उसी जन्म में माँ कहकर पुकारा और अन्ततः कैकेयी जी को स्वीकार करना ही पड़ा कि हाँ, अब मेरा भ्रम दूर हो गया। जिस समय कैकेयी जी ने भगवान् राम को बुलाकर कहा कि राम, मैंने तुम्हारे पिता से दो वरदान माँगे हैं, क्या तुम उन वरदानों को पूरा कर सकोगे? भगवान् राम ने पूछा—'माँ, तुमने क्या वरदान माँगा है? तो उन्होंने कहा—एक तो यह कि मेरा पुत्र भरत राजा हो और दूसरा यह कि तुम चौदह वर्ष के लिए वन जाओ। भगवान् श्री राघवेन्द्र ने कैकेयी जी के चरणों को पकड़ लिया और गद्गद कण्ठ से बोले, 'सुनु जननी....' कैकेयी जी को उन्होंने जननी कहा। भगवान् श्री राम का अभिप्राय क्या था? मानो वे कहना चाहते है कि माँ, अगले जन्म में क्यों? लो, मैं तो अभी से तुम्हारा पुत्र बन गया। मेरी जननी तुम्हीं हो। कैकेयी कह सकती है कि नहीं नहीं, मेरा पुत्र तो भरत है। भगवान् राम ने कहा कि वह तो तब पता चलेगा जब भरत लौटकर आएँगे। तुम्हें जो यह भ्रम हो गया है कि तुम भरत की जननी हो, वह भरत के आने पर दूर हो जाएगा और तुम जान लोगी कि वास्तव में तुम भरत की जननी हो या मेरी; और सचमुच श्री भरत की महानता यही है कि उन्होंने कैकेयी जी की दुर्बलता को दूर करने के लिए एक सद्वैद्य की भूमिका का पूरा निर्वाह किया।

भगवान् राम कैकेयी जी को जननी कहकर सावधान करते हैं। उन्होंने उन्हें माँ कहकर नहीं, अपितु जननी कहकर पुकारा। साधारणतया लोग समझते हैं कि माँ और जननी पर्यायवाची शब्द हैं। पर पर्यायवाची शब्दों के भी भावनात्मक अर्थों में भेद रहता है। किसी भी महिला को जिसके प्रति आपके मन में आदरबुद्धि है, आप माँ कहकर पुकार सकते हैं, पर जननी सबको नहीं कह सकते। जननी तो वही है, जिसके गर्भ से हमारा जन्म होता है। भगवान् राम ने कैकेयी से कहा कि तुम तो मेरी जननी हो और वे बार बार कह रहे हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ २/४१

—आदि में, मध्य में और अन्त में भी वे बारम्बार कहते हैं—माँ, मेरी जननी तुम हो। मेरा जन्म तुम्हारे माध्यम से हुआ है। मैं तुम्हारा बेटा हूँ। पर कैकेयी तो ममता से ग्रस्त हैं, वे सोचती हैं कि राम इस तरह से बोलकर मुझे भुलावा दे रहे हैं। मुझे फुसलाना चाहते हैं कि किसी तरह से मैं अपने शब्दों को वापस ले लूँ। लेकिन भगवान् राम का उद्देश्य क्या था? वे तो कैकेयी जी के भ्रम को दूर करने की ही चेष्टा कर रहे थे। कैकेयी की मान्यता थी कि राम की माँ तो कौशल्या हैं। पर कौशल्या ज्ञानमयी हैं—

ज्ञानशक्तिकौशल्या सुमित्रोपासनात्मिका।

और ज्ञान की परिभाषा क्या है? ज्ञान अहंता और ममता से शून्य होता है। कौशल्या जी के जीवन में न अहंता है और न ममता। उनके अन्तःकरण में राम और भरत के प्रति भेद-बुद्धि कभी भी उत्पन्न नहीं हुई। जहाँ भेद-बुद्धि नहीं है, वहाँ ममत्व हो ही नहीं सकता। ममत्व का तो अर्थ ही यह है कि जहाँ पर दो में यह भेद किया जाए कि एक मेरा है और दूसरा पराया। अगर अपना और पराया नहीं है तो ममता नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। कौशल्या जी के जीवन में अपना और पराया नहीं है। अतः उनके अन्तःकरण में ममता का भी प्रश्न नहीं है। पर भगवान् राम ने कैकेयी जी से कहा—माँ, आज सिद्ध हो गया कि तुम मेरी जननी हो। क्यों? भगवान् राम का तात्पर्य यह है कि बालक जब बोलने लगता है, तब तो उसकी भाषा को प्रत्येक व्यक्ति समझ लेता है कि बालक क्या कह रहा है। पर बालक जब बिल्कुल नहीं बोल पाता तब उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कौन करता है? उस न बोलने वाले बालक की भाषा को तो उसे गर्भ में धारण करने वाली माँ ही समझती है। वह माँ के गर्भ में रहकर भी माँ के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा कराता रहा और जन्म के बाद भी जब तक उसके पास भाषा नहीं है तब तक वह माँ पर ही आश्रित है। माँ उसको प्रत्येक भाषा को समझ लेती है। भगवान् राम ने कैकेयी जी से कहा—माँ तुम मेरी जननी हो, इसका स्पष्ट प्रमाण आज मुझे मिल गया। क्या? मेरे मन में एक विचार आया, पर डर के मारे मैं बोल नहीं पा रहा था और पूरी अयोध्या में कोई समझ नहीं पाया। केवल तुमने समझा। तुम मेरी जननी न होती तो मेरे मन की बात को कैसे जान लेती? भगवान् राम का संकेत यह था कि कल ही जब गुरु जी ने कहा कि तुम्हें अयोध्या का राज्य मिलेगा तो मैं दुखी हो गया और सोचने लगा कि—

बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥ २/१०/७

—इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात हो रही है कि और सब भाइयों को छोड़कर राज्याभिषेक एक बड़े का होता है। राज्य तो छोटे को ही मिलना चाहिए, पर मैं गुरु जी के डर से नहीं कह पाया। मेरे राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कौशल्या अम्बा प्रसन्न हो गईं। अगर ये मेरी जननी होती तो मेरे मन की बात अवश्य समझ लेती, पर नहीं समझ पाईं। तुम समझ गईं, सचमुच तुम्हीं मेरी जननी हो। मैं तो यही सोच रहा था कि भरत राजा होता तो कितना अच्छा होता। और आज तुमने वरदान माँग लिया कि भरत राजा हो। तुमने मेरे हृदय की भाषा को समझ लिया। माँ, तुम विश्वास करो, तुम मेरी माँ ही नहीं, मेरी जननी भी हो। मैं तुम्हारा बेटा हूँ। कैकेयी ने तो भगवान् की बातों पर विश्वास नहीं किया, लेकिन श्री भरत ने इसे सिद्ध करके दिखा दिया कि सचमुच उनके पुत्र तो श्री राम ही हैं।

श्री भरत यह समझ गये कि कैकेयी के अन्तःकरण से ममता का संस्कार नहीं मिट पा रहा है और जब तक उनका यह ममत्व दूर नहीं होगा, तब तक उनका कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने यह निर्णय लिया कि इनके ममत्व को दूर करना ही होगा और उनके इस ममता दद्रु की चिकित्सा उन्होंने अपने शुष्क व्यवहार से ही प्रारम्भ की। कैकेयी जी के प्रति उनके शुष्क व्यवहार का अभिप्राय यही था कि व्यवहार में आर्द्रता कैकेयी जी के लिए कुपथ्य है। उनमें अहंता की समस्या नहीं है। ये सिंहासन अपने लिए नहीं माँगतीं। वे चाहती हैं कि मेरा बेटा राजा बने। भरत मेरा बेटा है, भरत सिंहासन पर बैठे। यह ममता ही उनकी समस्या है। भरत जी जब ननिहाल से लौटकर आये और अयोध्या का समाचार सुना तो समझ गये कि कैकेयी जी को ममता का दद्रु रोग हो गया है। उन्होंने तुरन्त चिकित्सा प्रारम्भ की, बड़े कठोर शब्दों में जोर से फटकारा, बड़ी तीव्र भर्त्सना की और उनके इस शुष्क और कठोर व्यवहार का बड़ा सुन्दर परिणाम हुआ। कैकेयी जी ने जब भरत की फटकार सुनी तो भरत तो आँखों से ओझल हो गये और मन की आँखों के सामने राम आ गये। याद आने लगा कि वन जाते समय राम ने क्या कहा था। जिसको मैंने वनवास दिया, उसने मुझे क्या कहा और जिसको राज्य देने के लिए मैंने इतना अनर्थ किया, कुयश लिया, कलंक लिया, विधवा बनी, वह क्या कह रहा है? राम ने तो मुझे जननी कहकर पुकारा था, कहीं राम का सम्बोधन ही तो ठीक नहीं था? सचमुच भरत मेरा बेटा नहीं है। सचमुच मैंने पुत्र को पहचानने में भूल की। अब तो सचमुच संसार में मेरा कोई भी अपना

नहीं है। पति से परित्यक्ता, समाज से तिरस्कृता, पुत्र के द्वारा सम्बन्ध की अस्वीकृति। सब जगह से उनके नाते टूटे हुए हैं। एक आशा की डोर बंधी हुई थी भरत से; लेकिन भरत जी ने उसे भी बलपूर्वक तोड़ दिया।

नाता तोड़ देने के बाद भी भरत जी बड़े सावधान थे। उन्होंने जीवन भर कैकेयी को फिर कभी माँ कहकर नहीं पुकारा? वैद्य जानते हैं कि पथ्य-कुपथ्य सबके अलग-अलग होते हैं। भरत जी ने देखा कि एक बार तो इस ममता के संस्कार ने इतना बड़ा अनर्थ किया, अब फिर से मैं यदि माँ कहकर पुकारूँगा तो कुपथ्य पाकर रोग फिर से जाग उठेगा। इस रोग का क्या ठिकाना, थोड़ी-सी नमी पाकर फिर से उभर सकता है और यदि यह ममता फिर से उभर गई, तो माँ का कल्याण नहीं है। इसलिए निर्णय कर लिया कि माँ के जीवन से ममता को पूरी तरह से मिटा देना होगा। लंका से लौटकर भगवान श्री राम ने भी कैकेयी जी से पूछा—माँ, जाते समय मैंने तुमसे कहा था कि तुम्हारा बेटा मैं हूँ, अब तुम्हें विश्वास हुआ कि नहीं? गोस्वामी जी लिखते हैं—

ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। ७/१०/१

कैकेयी जी प्रसन्न हो गयीं। उनके मन में अब कोई दुःख नहीं रह गया। कई लोग यह कहते हैं कि कैकेयी जी ने भगवान राम से कहा कि भरत से मुझे माँ कहला दो। जो लोग ऐसा कहते हैं वे कैकेयी जी के चरित्र का अनादर करते हैं, वे तो भगवान श्री राम की भक्ति का भी अनादर करते हैं जो यह कहते हैं कि कैकेयी जी ने श्रीराम से हठ किया भरत एक बार मुझे माँ कहकर पुकार दे और साथ-साथ यह भी कह दिया जाता है कि श्री राम ने भरत जी से कह दिया कि तुम कैकेयी जी को माँ कहकर पुकारो और भरत जी ने कह दिया कि मैं नहीं पुकारूँगा। न तो यह भरत जी की मर्यादा है और न यह बात श्री राम के ही अनुरूप है। बल्कि भगवान राम ने तो श्री भरत से कह दिया कि भरत् यह बहुत अच्छा हुआ। क्या? सभी भाइयों में आपस में बँटवारा होता है। इस बँटवारे में एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि अभी तक तो कैकेयी जी के बेटे हम दोनों थे, लेकिन अब उनका नाता तुमसे टूट गया और उन पर पूरा अधिकार केवल मेरा है। अब वे केवल मेरी माँ हैं। मेरे और माँ के बीच अब तुम तीसरे तो नहीं बनोगे? श्री भरत ने कहा—नहीं प्रभो! हम तो यही चाहते हैं कि उनके अंतःकरण में इसी सत्य का साक्षात्कार होता रहे कि उनके पुत्र तो एकमात्र श्री राम को छोड़कर और कोई नहीं है और सचमुच यही ममत्वशून्य स्थिति है। उस ममता के द्वारा कैकेयी जी को

कलंक लगा और उनकी ममता को मिटाने के लिए ही श्री भरत ने उनसे इतना शुष्क व्यवहार किया, उनके कलंक का प्रक्षालन किया और अन्त में जब उनके जीवन से ममता मिट गई, तभी उनका कल्याण हुआ।

इसी प्रकार महाभारत की गान्धारी भी कैकेयी जी के समान ही परम पतिव्रता थी। उन्होंने अपने जीवन में पतिव्रता के रूप में महान कीर्ति पाई। उनका विवाह अन्धे धृतराष्ट्र के साथ हुआ, लेकिन जब उन्होंने देखा कि मेरे पति के पास दृष्टि नहीं है तो उन्होंने भी अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली। नेत्र से बढ़कर और कौन-सी वस्तु होगी? पर स्वयं के नेत्र होते हुए भी उन्होंने अपने नेत्रों पर पट्टी बाँध ली। उनका अभिप्राय यह था कि अगर पतिदेव संसार को नहीं देख पाते तो मैं भी नहीं देखूंगी। दृष्टि होते हुए भी उन्होंने देखना बन्द कर दिया। सारे संसार में उनकी कीर्ति फैल गई। उनके पतिव्रत की महिमा फैल गयी, लेकिन—

ममता केहि कर जस न नसावा। ७/७१/२

ममता ने किसके यश को धूमिल नहीं किया? जब गान्धारी ने दुर्योधन को बुलाया और कहा—पुत्र, मैंने निर्णय किया है कि कुछ समय के लिए मैं अपनी आँखों की पट्टी खोलूंगी। दुर्योधन ने पूछा—क्यों खोलेंगी, क्या उद्देश्य है आपका? गान्धारी ने कहा—मैं पतिव्रता हूँ। आज तक अपनी दृष्टि से मैंने संसार को नहीं देखा। ज्योंही पट्टी खोलकर मैं तुम्हें देखूंगी, तुम्हारा सारा शरीर वज्र का हो जाएगा और तब भीम तुम्हें नहीं मार सकेगा। तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। फिर देखें, पांडव तुम्हें कैसे जीत पाते हैं? दुर्योधन तो सुनकर फूला नहीं समाया, प्रसन्न हो गया। यह समाचार जब गुप्तचरों के द्वारा पाण्डवों के पास पहुँचा, तो वे निराश हो गये। वे पातिव्रत की शक्ति से परिचित थे। सोचने लगे कि अब तो लड़ाई में हार अवश्यम्भावी है। भीम भी निराश हो गये और अर्जुन भी। युधिष्ठिर भी घबरा गये। एकमात्र श्री कृष्ण ही थे, जो सुनकर मुस्कराने लगे। श्री कृष्ण को मुस्कुराते हुए देखकर पाण्डव बोले—महाराज, हम लोग तो इतने घबराये हुए हैं और आप मुस्करा रहे हैं? क्या आपने नहीं सुना कि गान्धारी जैसी पतिव्रता अपनी आँखों की पट्टी हटा रही है। श्री कृष्ण बोले—पट्टी हटा नहीं रही है, चढ़ा रही है। अभी तक पट्टी केवल कपड़े की थी और अब उसने ममता की पट्टी चढ़ाने का निर्णय लिया है। यह कपड़े की पट्टी तो हट जायेगी पर इस ममता की पट्टी से वह पूरी तरह अन्धी हो जाएगी। इसलिए तुम

लोग निश्चिन्त रहो। वस्तुतः न देखने की स्थिति में तो वह अब आई है। भगवान श्री कृष्ण का अभिप्राय यह था कि गान्धारी जानती है कि श्री कृष्ण ईश्वर हैं और स्वयं ईश्वर अगर किसी का विनाश करना चाहता हो तो क्या उसे कोई बचा सकता है? गान्धारी उसे अमर बनाने की चेष्टा कर रही है, जो मरणधर्मा है। उसकी यह धारणा कितनी हास्यास्पद है! जो मरणधर्मा है, उसके साथ अपने आपको मिटाया तो जा सकता है पर उसे कोई अमर कैसे बना देगा? और जब स्वयं ईश्वर ही जिसे मारने पर तुला हुआ हो तो ऐसी स्थिति में भला उसकी रक्षा कौन कर सकता है? लेकिन गान्धारी की यह ममता कि दुर्योधन मेरा बेटा है, उसे नहीं मरना चाहिए, मैं उसे नहीं मरने दूंगी। और दुर्योधन? क्या वह कपड़े उतार कर गया? उसे तो दूसरों का कपड़ा उतारना ही आता है, अपना कपड़ा उतारना उसे नहीं आता। कपड़े उतारकर चला तो बीच में नारद जी मिल गये। नारद जी ने पूछा—अरे-अरे, यह क्या, कहाँ जा रहे हो? लज्जा के मारे बिचारा दुर्योधन बैठ गया। तब नारद जी ने कहा कि मेरे सामने जब तुम्हें इस तरह से लज्जा आ रही है तो गान्धारी के सामने कैसा लगेगा? इसलिए ऐसा करो, कमर में एक छोटा सा कपड़ा लपेट लो। दुर्योधन को नारद जी की सलाह अच्छी लगी। कमर में वस्त्र लपेटकर वह गान्धारी के सामने पहुँच गया! पतिव्रता गान्धारी ने अपनी आँखों की पट्टी हटाई, उसकी दृष्टि दुर्योधन पर पड़ी और उसका सारा शरीर वज्र का हो गया, केवल कमर कच्ची रह गयी क्योंकि कमर पर पट्टी बँधी थी। बड़ा विचित्र व्यंग्य है। इससे बढ़कर विडम्बना क्या हो सकती है। पतिव्रता की दृष्टि ने सारे शरीर को तो वज्र का बना दिया, पर एक कपड़े की पट्टी को भेद कर वह दृष्टि उसके कमर को वज्र नहीं बना पायी। क्यों? वह दुर्योधन की कमर पर मात्र कपड़ा नहीं था। वह तो ईश्वर का संकल्प था। जो नारद ने कहा था वह कपड़े के रूप में भगवान का ही संकल्प था। जब भगवान सुने तो हँसकर उन्होंने यही कहा कि देखो, गान्धारी ममता में कितनी अन्धी हो रही है। वह समझ रही थी कि मैं अपने पुत्र को अमर बनाने जा रही हूँ। अमर तो नहीं बना पाई, बल्कि उसने तो मारने का ही उपाय बता दिया। पहले तो सोचना पड़ता कि दुर्योधन को कहाँ से मारा जाये, पर अब सब को पता चल गया कि वह मरेगा तो कमर पर से ही मरेगा। उसकी कमर ही कमजोर है। कैसा दुर्भाग्य है उसका!

इसका अभिप्राय यह है कि इतिहास में बड़े-से-बड़े ऐसे भी पात्र हैं, जिनके जीवन में यशस्विता होते हुए भी ममतायुक्त पक्षपात आया, जहाँ अधत्व आया

और वहाँ उन पर कलंक भी अवश्य लगा। रामचरितमानस के विविध सन्दर्भों में, कहीं पर ममता को कलंक देने वाली, कहीं पर बन्धन के रूप में, कहीं पर अँधेरी रात के रूप में दिखाकर मानो यह बताने की चेष्टा की गई कि भले ही उसे रोग न समझकर उसकी उपेक्षा करें, लेकिन सच्चे अर्थों में ममता हमारे जीवन को अन्धकार में, भ्रम में डाल देती है। और हमारे जीवन में जब तक स्नेह की आर्द्रता बनी रहेगी, तब तक यह पक्षपात हमारे लिए और समाज के लिए संकट उत्पन्न करती रहेगी।

□

प्रवचन-९

रामचरितमानस में रामकथा के अन्त में मानस रोगों का वर्णन कुछ विचित्र-सा लगता है। इसलिए कि रामकथा में बड़ी मधुरता है और रोग का दृश्य तो कोई आकर्षक नहीं होता। जब आप किसी चिकित्सालय में जाकर रोगियों को देखते हैं, तो स्वाभाविक रूप से ही वहाँ का वातावरण आपके लिए कोई बहुत उत्साहजनक नहीं होता। पर इतना होते हुए भी अस्वस्थ होने पर चिकित्सालय जाना व्यक्ति की बाध्यता है। व्यक्ति अगर अस्वस्थ हो जाय। तो स्वस्थता के लिए उसे रोग-निदान और चिकित्सा की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में चिकित्सालय प्रिय भले ही न लगे, पर वह कल्याणकारी तो है ही।

रामकथा के समान मधुरता मानसरोग के प्रसंग में नहीं है, क्योंकि इसमें मन की अवस्थाओं का, सूक्ष्म वासनाओं का ही वर्णन है। यह इतना आवश्यक है कि गोस्वामी जी ने निःसंकोच भाव से रामकथा के बाद मनुष्य के मन के रोगों का वर्णन किया है, और तत्पश्चात उसकी चिकित्सा का वर्णन करके रामकथा का समापन किया है। और यही हमारे आपके जीवन का सत्य है। हम कितने भी समृद्ध क्यों न हों, हमारा परिवार कितना भी बड़ा क्यों न हो, पर जब हम बीमार हो जाते हैं तो सब कुछ व्यर्थ प्रतीत होता है, दुःखद प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार जब व्यक्ति और समाज का मन अस्वस्थ हो जाता है तब न तो व्यक्ति सुखी रह पाता है और न समाज। जैसे किसी व्यक्ति को खाँसी आने पर वह स्वयं तो रात्रि में सो नहीं पाता, साथ ही आसपास के लोगों को भी नींद आना कठिन हो जाता है। उन्हें बड़ा बुरा लगता है, लेकिन यह रोगी की बाध्यता है। शरीर के रोगों में तो जब कोई व्यक्ति अस्वस्थ होता है तो अपने निकट के लोगों को ही उत्पीड़ित करता है, मन के रोगों में तो यह उत्पीड़न और भी अधिक व्यापक है। मन का रोगी न तो स्वयं सुख, चैन और शान्ति से रह सकता और न दूसरों को रहने देता है।

आज समाज में चारों ओर जो अव्यवस्था और अशान्ति दिखाई दे रही है, यदि हम गहराई में उसके मूल में पैठकर देखें, तो यही कह सकते हैं कि समाज में मन के रोग इतने अधिक बढ़ गये हैं कि इसके परिणामस्वरूप समाज में चारों ओर विग्रह और अशान्ति दिखाई पड़ रही है। मन के इन रोगों को दूर करने के लिए मन की चिकित्सा करने की आवश्यकता है।

भौतिक शरीर की सुरक्षा और स्वस्थता के लिए जैसे चिकित्सा की आवश्यकता है; शासन की ओर से इसका प्रबन्ध है; महापुरुषों, आश्रमों और सेवा-प्रतिष्ठानों द्वारा भी उस दिशा में प्रयास होते हैं। परन्तु शरीर की अपेक्षा मन की स्वस्थता कहीं अधिक आवश्यक है, उसके लिए भी चिकित्सालय की आवश्यकता है। लेकिन इस चिकित्सालय की व्यवस्था शासनतन्त्र की ओर से सम्भव नहीं है; बल्कि यह तो सन्तों के द्वारा ही सम्भव है। इसका संकेत हमें मानस के अयोध्याकाण्ड में श्री भरत के चरित्र के माध्यम से मिलता है।

गुरु वशिष्ठ श्री भरत से जब यह कहते हैं कि तुम अयोध्या का राज्य-संचालन करो, प्रजा की सेवा करो, माताओं की सेवा करो, समाज की सेवा करो, तो उनका यह प्रस्ताव बड़ा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। और इतना ही नहीं, कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि अन्त में श्री भरत को यही करना भी पड़ा। उन्होंने चौदह वर्ष तक राज्य चलाया। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में अयोध्या के सारे समाज को, इतने बड़े जनसमूह को लेकर चित्रकूट जाने की क्या आवश्यकता थी? गुरु वशिष्ठ की आज्ञा मानकर वे प्रजा की सेवा करते और चौदह वर्ष पश्चात् श्री राम के लौट आने पर राज्य उन्हें सौंप देते। लेकिन यहीं पर रामचरितमानस का जीवन-दर्शन निहित है। और यह जीवन-दर्शन विशेष रूप से इसी युग के सन्दर्भ में प्रासंगिक है। गोस्वामी जी तो एक बहुत बड़ी बात कहते हैं। अयोध्याकाण्ड के अन्त में उन्होंने कहा कि अगर श्री भरत का जन्म न हुआ होता, तो संसार को कुछ बातों से वंचित रहना पड़ता। उनमें से एक-एक को गिनाते हुए वे कहते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिसम ब्रत आचरत को॥ २/३२६

—श्री भरत का जन्म न हुआ होता तो श्री राम के प्रेम की परिपूर्णता समाज के सामने न आ पाती।

बड़े-बड़े तपस्वियों और मुनियों के लिए भी जो साधना कठिन है, उसे अपने जीवन में साकार करके कौन दिखाता। और अपनी पंक्ति में वे और भी महत्व की बात कहते हैं कि समाज में जो दुःख, पीड़ा, जलन और दरिद्रता है, उसे दूर करने में श्री भरत को छोड़कर दूसरा कौन समर्थ है? लेकिन सुनने वाला अचानक गोस्वामी जी से पूछ बैठता है कि महाराज, ये बातें तो त्रेतायुग वालों के लिए थीं। श्री भरत त्रेतायुग में आये और उस युग के लोगों ने उनके प्रेम को देखा, उनके जीवन की साधना और तपस्या को देखा। उस युग की जो समस्याएँ थीं—जो दुःख, दरिद्रता और दीनता थी, उनका उन्होंने समाधान

किया, परन्तु आज तो आप केवल उनकी कथा ही सुना रहे हैं, केवल अतीत का इतिहास सुना रहे हैं। तब अन्तिम पंक्ति में गोस्वामी जी मानो संकेत कर देना चाहते हैं—नहीं, नहीं मैं किसी पुरातन युग की ही बात नहीं कह रहा हूँ, वह तो बिल्कुल वर्तमान से जुड़ा हुआ इसी युग का सत्य है। इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में गोस्वामी जी अपना दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—मैं तो इस युग का व्यक्ति हूँ। मैं अस्वस्थ था। गोस्वामी जी ने अपने जीवन में एक तीव्र अस्वस्थता का अनुभव किया था। और यदि मानस रोग की भाषा में कहें तो उन्हें वातज्वर हो गया था। क्योंकि मानस रोग के प्रसंग में कहा गया है—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ७/१२१/३०

काम ही मन का वात रोग है। गोस्वामी जी के जीवन में कितनी तीव्र कामुकता थी, उसका कितना तीव्र आवेग था, इससे आप लोग परिचित हैं। पर अन्त में वे इस रोग से मुक्त हुए, स्वस्थ हुए। किस उपाय से? आज के युग में इन मानस रोगों से पीड़ित व्यक्ति और समाज को वे स्वस्थ रहने का वह उपाय बता देते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—'कलिकाल'—इस कलियुग में, इसका अभिप्राय है कि यह त्रेतायुग का ही सत्य नहीं, बल्कि एक बात मैं और बता दूँ कि जब त्रेतायुग में राम बन गये तो केवल भौतिक सन्दर्भ में वह त्रेतायुग था। लेकिन अगर हम मानसिक दृष्टि से इस पर विचार करें तो इसका सीधा-सा तात्पर्य यह होगा कि जब हमारे अन्तःकरण में ध्यान-समाधि की इच्छा जाग्रत हो, अन्तर्मुखता उत्पन्न हो, तो उस समय समझ लेना चाहिए कि हम मन से सतयुग में निवास कर रहे हैं। जिस समय हमारे अन्तःकरण में लोकसेवा, परोपकार तथा यज्ञ की वृत्ति आवे तो समझ लेना चाहिए कि हम त्रेतायुग में हैं। और जिस समय हमारे अन्तःकरण में पूजा एवं भगवान की आराधना की वृत्ति उदित हो तो समझ लेना चाहिए कि हम मानसिक रूप से द्वापरयुग में निवास कर रहे हैं। गोस्वामी जी ने युगधर्म का वर्णन इसी रूप में किया है—

कृतयुग सब जोगी बिग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेतां बिबिध जग्य नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ ७/१०३/१-१-३

पर जब मन में दूसरों के कष्ट देने की वृत्ति आए तब ? जब दूसरों को संकट में देखकर हमें प्रसन्नता हो, जब हमारे अन्त:करण में काम, क्रोध आदि की वृत्तियाँ आएँ तो उस समय समझ लेना चाहिए कि कलियुग में बैठे हुए हैं। फिर इस क्रम में विपर्यय भी होता है। जैसे ऋतुओं के क्रम में आप देखते हैं, शीत ऋतु में ठण्डक की प्रधानता है, ग्रीष्म में गर्मी की और वर्षा ऋतु में वर्षा की। लेकिन इसमें कभी-कभी विपर्यय भी होता है। कभी-कभी शीतऋतु में भी ठण्डक का अनुभव नहीं होता, गर्मी की अनुभूति होती है। उस समय ऋतु का नाम भले ही शीतऋतु हो पर अनुभूति दूसरे ऋतु की होती है। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में गर्मी पड़ रही है, अचानक वर्षा हो गई तो ठण्डक आ जाती है। और तब नाम उसका भले ही ग्रीष्मऋतु हो पर उस समय हम शीतलता का अनुभव करते हैं, वर्षा का अनुभव करते हैं, ग्रीष्म का अनुभव नहीं होता है। तो जैसे ऋतुओं के क्रम में विपर्यय होता है, उसी तरह युगों में भी विपर्यय होता है। जब सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग कहते हैं तब इसका एक अर्थ तो यह होता है कि इतने वर्ष तक सतयुग, इतने वर्ष तक त्रेता, इतने वर्ष तक द्वापर और इतने वर्ष तक कलियुग रहेगा। पर ये चारों युग सतयुग में भी होते हैं, और त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में भी होते हैं। और केवल चारों युगों में ही नहीं बल्कि हमारे आपके जीवन में भी नित्य चारों युग आते हैं। जिस समय हम जिस युग की मन:स्थिति में रहते हैं, उस समय हमारे जीवन में वही युग रहता है। एक ही स्थान पर बैठे हुए अलग-अलग लोगों को अलग-अलग युग की अनुभूति होती है। जो कथा में बैठे हुए हैं वे किस युग में बैठे हुए हैं? जिसकी दृष्टि किसी दूसरे के जूते पर लगी हुई है वे कलियुग में ही तो बैठे हुए होंगे। तात्पर्य यह है कि शरीर चाहे जहाँ हो, व्यक्ति का मन जिस युग की मनोभूमि पर होगा वह उसी युग में विद्यमान होगा। तो राम जब अयोध्या से निकाल दिये गये वह क्या त्रेतायुग था? मन्थरा के द्वारा कैकयी के अन्त:करण में जो विकृति उत्पन्न की गई, वह क्या त्रेतायुग का लक्षण है? वस्तुत: वह त्रेता में कलियुग आ गया था। कलियुग का जैसा लक्षण है वह सारा का सारा वातावरण वहाँ बन गया था। गोस्वामी जी कहते हैं कि श्री भरत तो कलियुग-वालों के लिए हैं। अन्य युगवालों के लिए भी उनमें प्रेरणा है; सतयुग-वालों के लिए प्रेरणा इसलिए है कि भरत महान योगी हैं, साधक हैं; त्रेतायुग-वालों के लिए इसलिए है कि उनके चरित्र में लोकोपकार और सेवा की उत्कृष्टतम भावना है; द्वापर के लोगों के लिए वे इसलिए प्रेरक हैं कि उनके जैसा पूजा करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है। श्री भरत महान विज्ञानी हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—

सोक कनकलोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥
भरत बिबेक बराहँ बिसाला।
अनायास उधरी तेहि काला॥ २/२९७/३-४

—"जगत के समस्त गुणों की जननी बुद्धिरूपी पृथ्वी का जब शोकरूपी हिरण्याक्ष ने हरण कर लिया, तब भरत जी के विवेक रूपी विशाल वाराह ने अनायास ही उनका अविलम्ब उद्धार कर दिया।" इस प्रकार भरत के विवेक को देखकर, सतयुग के लोगों को लगता है कि भरत हमारे लिए हैं। और त्रेता के निवासियों के लिए भी भरत जी का चरित्र सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। इसलिए वे त्रेतायुग के भी आदर्श हैं। और—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥ २३/३२५

—"हृदय में असीम प्रेम लिए वे नित्यप्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं और पादुकाओं से आज्ञा माँगकर अनेक प्रकार के राजकीय कार्य चलाते हैं। यह कर्म द्वापर की परम्परा के लिए प्रेरक है। लेकिन गोस्वामी जी कहते हैं कि सबसे अधिक प्रेरक तो श्री भरत कलियुग के लिए हैं, क्योंकि हमारे युग की समस्याओं का जो समाधान श्री भरत ने दिया है वह अन्य किसी ने नहीं दिया। गोस्वामी जी का वाक्य बड़े महत्त्व का है। वे सावधान कर देते हैं कि आप लोग इसे किसी पुराने युग की गाथा के रूप में न लीजिएगा। 'कलिकाल' का उल्लेख वे अन्तिम छन्द में करते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥ २/३२६

—इस कठिन कलयुग में मुझ जैसे दुष्ट को भगवान राम के सम्मुख श्री भरत ही ले गए। गोस्वामी जी अपने आपको कहाँ स्थापित करते हैं? यह उनका आत्म-विश्लेषण है। कहते हैं, 'तुलसी से सठन्हि'—मैं तो दुष्ट हूँ। तो किसी ने पूछ दिया—तो श्री भरत आपको ले कैसे गये? उन्होंने कहा—और सब लोगों को देखकर तो मुझे साहस नहीं हुआ कि मैं भी श्री राम के सामने जाऊँ। जिनमें ज्ञान-भक्ति की उत्कृष्टता थी, उनके साथ जाने में डर लगा, क्योंकि उनके साथ जाने योग्य कोई भी लक्षण मुझमें नहीं है। श्री भरत जी के साथ जाने वालों में मैंने जब गुरु वशिष्ठ को देखा, बड़े-बड़े ऋषियों को देखा, योग्य मंत्री और सेना-पतियों को देखा, सत्कर्म करनेवालों को देखा, तो मुझे साहस नहीं हुआ।

लेकिन जब देखा कि वे मन्थरा और कैकेयी को भी साथ लेकर चल रहे हैं तो सोचा कि मैं भी चल सकता हूँ।

कैकेयी को साथ ले जाने का क्या तात्पर्य है। सारी समस्याओं की सृष्टि तथा राम को जीवन से दूर करने की चेष्टा जिन्होंने की, रामाज्ञा में गोस्वामी जी ने उन्हें कलि का प्रतीक बताया, 'कलहरूप कलि कैकेयी'। और इसका अभिप्राय यह है कि कैकेयी जी तब भले ही त्रेतायुग में निवास कर रही हों, पर उस समय वे कलि के समस्त लक्षणों से आक्रान्त थीं। और तब श्री भरत क्या करते हैं? वे सारे समाज को लेकर चित्रकूट जाते हैं और साथ ही साथ कैकेयी को भी ले जाते हैं। इसके पीछे श्री भरत का उद्देश्य क्या है? गुरु वशिष्ठ ने उनसे कहा कि तुम प्रजा की, समाज की सेवा करो। पर उन्होंने गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। बात बड़ी मनोवैज्ञानिक और बुद्धिगम्य है। वर्तमान युग के संदर्भ में हम अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में अनुभव करके देख सकते हैं। आज क्या समाज-सेवकों की कमी है? क्या समाज के समस्याओं का समाधान करनेवालों का अभाव है? इतने सेवक हैं कि एक कवि ने मुझे एक कविता सुनाई, जिसका भावार्थ यह था, "अब बाग में इतने माली हो गये हैं कि फूलों के लिए जगह ही नहीं बची है।" माली ही माली दिखाई दे रहे हैं, फूल कहीं दिखाई नहीं देते। इतने सेवक होते हुए भी, सेवकों की संख्या निरन्तर बढ़ते जाने पर भी समस्या क्यों बनी हुई है? श्री भरत ने इसी ओर ध्यान आकृष्ट किया। गुरु वशिष्ठ कहते हैं कि सबकी सेवा करो। पर श्री भरत का तात्पर्य यह है कि सेवा करनेवाले की भी कुछ योग्यता और कसौटी होनी चाहिए। सेवा तो बड़ी उत्तम वस्तु है, लेकिन मान लीजिए कोई संक्रामक रोग से ग्रस्त है, यक्ष्मा का रोगी है और भाषण में सेवा की महिमा सुनकर उनके मन में उत्साह उमड़ पड़े कि वे तो लोगों की सेवा करेंगे, तो इसका परिणाम क्या होगा? उनसे पूछा गया कि क्या सेवा करोगे? बोले, हम प्यासों को जल पिलाएँगे। जल पिलाना, तृप्ति देना एक बहुत बड़ी सेवा है, पर जब तपेदिक का रोगी कोई व्यक्ति प्यासों को जल पिलाएगा तो प्यासे लोग पानी तो वहाँ पी लेंगे, परन्तु यह क्या सच्चे अर्थों में सेवा है? आपात् दृष्टि से तो लगेगा कि जल पिलाने से प्यासे व्यक्ति की प्यास मिट गई, पर जब वह जल पिलाएगा, तो जल के साथ-साथ वह अपना रोगाणु भी तो पिलाएगा। और तब इसका परिणाम क्या होगा? कुछ दिनों बाद बेचारे जिन लोगों ने उनके हाथ से जल पीया है, वे रोगी हो जाएँगे। यह कर्म तो सेवा के समान दिखाई देते हुए भी सेवा नहीं, कुछ और है। अनर्थकारी है। भरत जी का अभिप्राय यह है

कि जो स्वयं रोगी है, सच्चे अर्थों में दूसरों की सेवा नहीं कर सकता। वे समाज से यही पूछते हैं—आप किससे सुख पाना चाहते हैं मुझसे? फिर विनम्रतापूर्वक कहा—आप लोग भी अस्वस्थ हैं और मैं भी। श्री भरत ने नाड़ी पकड़ कर रोग का निदान कर लिया और देखा कि सब रोगी हो रहे हैं। यहाँ तक कि गुरु वशिष्ठ, जो स्वयं वैद्य हैं, रोगी हो रहे हैं। वैद्य भी कभी-कभी रोगी हो जाया करते हैं। भरत जी ने बता दिया कि सारा समाज रोगी हो गया है और यह भी बता दिया कि वह किस रोग से ग्रस्त है। उन्होंने कहा—

तुम्ह चाहत सुखु मोह बस,
मोहि से अधम कें राज ।। २/१७८

जब मेरे जैसा अधम राजा राज करेगा तथा आपके समान रोगी प्रजा होगी और जब दोनों मिल जायेंगे तो क्या समाज सुखी और सन्तुष्ट हो सकेगा? उन्होंने कह दिया—आप लोग मोहग्रस्त हैं?

पितु सुरपुर सिया रामु बन,
करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित,
कै आपन बड़ काजु ।। २/१७७

"पिता स्वर्ग में हैं, भगवान् राम और श्री सीता वन में हैं, और आप मुझे राज्य करने को कहते हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना हित?" भरत जी कहते हैं—मैं समझ गया, इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है, आप लोग जिस रोग से ग्रस्त हैं, उसका रोगी वही कहता है जो आप कह रहे हैं।

सारे मानसिक रोगों का मूल क्या है?

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।। ६/१२१/२९

"मोह ही समस्त व्याधियों का मूल है। और उसी मोह से सारे रोग उत्पन्न होते हैं।" श्री भरत ने कहा—आज सारा समाज मोहग्रस्त हो रहा है। अगर आप मोहग्रस्त न होते तो यह कल्पना भी न करते कि श्री राम को लौटाए बिना रामराज्य बन सकता है और बिना रामराज्य बनाये इस समस्या का समाधान हो सकता है। अगर आप लोगों को तथा गुरुदेव को मेरा राज्य स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत हो रहा हो तो मैं यही समझता हूँ आप सभी मोहग्रस्त हैं। और तब उन्होंने उनकी चिकित्सा की। वे पूरे समाज को लेकर चित्रकूट जाते हैं।

श्री भरत अयोध्या के समस्त नर-नारियों को लेकर चित्रकूट क्यों जाते हैं? यही चिकित्सा है। रामकृष्ण मिशन की परम्परा पर आप ध्यान दें। उसमें आपको यह मूल तत्व मिलेगा। आध्यात्मिक व्यक्तियों के द्वारा सन्तों और तपस्वियों के द्वारा सेवा—इसका अभिप्राय यह है कि जो स्वयं स्वस्थ हैं वे समाज को स्वस्थ बनाएँ। इनमें स्वाभाविक रूप से सेवा भाव रहता है, केवल बाह्य प्रदर्शन नहीं। तभी तो अन्तःकरण का अपेक्षित परिवर्तन और निर्माण होगा श्री भरत के दर्शन में यही दिखाई देगा। वह कहते हैं, पहले चित्रकूट चलिए। अयोध्या के समस्त नर-नारियों को, सभी सम्प्रदाय के लोगों को निमंत्रण देते हैं। श्री भरत के जीवन में आपको वही दृष्टि मिलेगी, जो श्री-रामकृष्ण के जीवन में है। जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने सब धर्मों की साधना की है, उनका अनुभव किया, उसी तरह इस तत्व को आप श्री भरत के चरित्र में पाएँगे। भरत जी जब सब लोगों को लेकर चित्रकूट जाते हैं तो कुछ लोगों को वे हाथी पर बिठा देते हैं, कुछ लोगों को घोड़े पर, कुछ को रथ पर, कुछ को पालकी पर और कुछ लोग पैदल ही चलते हैं। संक्षेप में इसका अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति एक समान योग्यता और संस्कार का नहीं होता। चलना तो सबको ईश्वर की ओर है। पहुँचना तो सबको चित्रकूट है। जब तक चित्रकूट नहीं पहुँचेंगे, तब तक रोग दूर नहीं होगा। चित्त के संस्कार से ही रोग उद्भूत होता है। चित्रकूट जाने का अर्थ यह है कि अहंकार का त्याग करके मन तथा बुद्धि को साथ लिए चित्त के राज्य में प्रवेश करें और भगवान का साक्षात्कार करें।

चित्रकूट का लक्षण क्या है? जब श्री भरत सारे समाज को लेकर चित्रकूट पहुँचे, तब सारे लोग अन्तः और बाह्य रोगों से ग्रस्त हैं। वे सब चित्रकूट पहुँचकर क्या देखते हैं? गोस्वामी जी कहते हैं—

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥
राम बास बन संपत्ति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिराग बिबेकु नरेसू।
बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी।
सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥ २/२३५/३-७

—"अन्न के अभाव में भयभीत और दुखी, त्रिविध तापों से त्रस्त, क्रूर ग्रहों तथा महामारी से पीड़ित प्रजा जैसे किसी उत्तम देश और उत्तम राज्य में जाकर सुखी हो जाती है, श्री भरत चित्रकूट पहुँचकर वैसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। और वहाँ श्री राम के निवास से वन की सम्पदा ऐसी सुशोभित हो रही है, जैसे अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो जाती है। सुहावना वन ही पवित्र देश है, विवेक उसका राजा और वैराग्य मंत्री है।" ये ही चित्रकूट के लक्षण हैं। सद्गुण जहाँ सैनिक हैं और सुमति तथा शान्ति जहाँ की रानियाँ हैं। और यह चित्रकूट का राज्य बना कब? सद्गुण के सिपाही जीवन में कब आये?

जीती मोह महिपालु दल,
सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ,
सुख संपदा सुकालु॥ २/२३५

—"मोहरूपी राजा को सेना सहित जीतकर विवेकरूपी राजा निष्कण्ट राज्य कर रहा है। उसके नगर में सुख, सम्पत्ति और सुकाल है।" जहाँ पर मोह की पराजय हो चुकी है। और—

तुम्ह चाहत सुखु मोहबस।
मोहि से अधम कें राज॥ (२/१६८)

श्री भरत ने अयोध्या के लोगों को दिखा दिया कि जब तक सारा समाज मोह से ग्रस्त रहेगा तब तक वह जो सेवा करेगा, उस सेवा में कुसेवा मिली ही रहेगी। श्री भरत का अभिप्राय यह है कि इस मोह के विनाश हेतु हमें ईश्वर के सम्मुख होना आवश्यक है।

गुरु वशिष्ठ और श्री भरत के दर्शन में बड़ा अन्तर है। गुरु वशिष्ठ कहते हैं—

रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥ २/१७४/३

—"पिता ने तुम्हें राज्य दिया है, तुम राज्य लेने के बाद अगर तुम इसे नहीं रखना चाहते, तो तुम्हें अधिकार है कि तुम इसे किसी दूसरे को दे सकते हो। अभी तुम राज्य ले लो और चौदह बरस बाद जब राम आएँ, तब उन्हें दे देना। पर श्री भरत ने क्रम को उलट दिया। यहाँ पर वाल्मीकि रामायण में और रामचरितमानस में एक अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में जो बात आती है, वह 'मानस' के परम्परा के अनुकूल तो नहीं है, लेकिन मानवीय स्वभाव के अनुकूल है। वहाँ वर्णन आता है कि भगवान् राम जब लंका विजय करके लौटे

तो अयोध्या में प्रवेश करने के पूर्व उन्होंने हनुमान जी से कहा—हनुमान, तुम अयोध्या जाओ और भरत को मेरा सन्देश सुना आओ। पर इसके साथ ही भगवान् ने एक वाक्य और जोड़ दिया। उन्होंने कहा—पहले तुम यह देख लेना कि भरत राज्य चलाते हुए अगर राज्य के आनन्द में डूब चुके हों और उन्हें राज्य चलाने में आनन्द आ रहा हो, तो तुम उनको मेरा सन्देश मत सुनाना, लौट आना। मैं वन में ही रह जाऊँगा। भरत राज्य चलाएँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं। भगवान् राम ने कहा कि कभी-कभी व्यक्ति पहले तो भोगों से भागता है, पर भोगों के बीच रहते-रहते उसे भोग इतना अच्छा लगने लगता है कि फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है। सत्ता का आकर्षण अत्यन्त प्रबल हो। हो सकता है कि भरत को सत्ता के प्रति आकर्षण हो गया हो। ऐसी बात हो तो भरत राज्य चलाएँ, मुझे सत्ता की आवश्यकता नहीं। यह बात मानवीय दृष्टि से तो ठीक लगती है, पर श्री भरत का दर्शन क्या है? रामचरितमानस के राम तो श्री भरत के विषय में यह कल्पना ही नहीं कर सकते। वे तो यह कह देते हैं कि—

भरतहि होइ न राजमदु।
बिधि हरि हर पद पाइ।।
कबहुँ कि काँजी सीकरनी।
छीरसिंधु बिनसाइ।। २/२३१

—"श्री भरत को राज्य तो क्या, ब्रह्मा, विष्णु, महेश का पद पाकर भी मद नहीं हो सकता। काँजी की बूँदों से क्या कभी क्षीरसागर फट सकता है? जिस समय लक्ष्मण जी श्री भरत की आलोचना कर रहे हैं, उस समय भगवान् राम कहते हैं लक्ष्मण, सचमुच राजमद ऐसा ही है कि पद पाकर व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। लेकिन इतना होते हुए भी श्री भरत के विषय में यह कहना ठीक नहीं है। श्री भरत राज्यपद पाकर उन्मत्त नहीं हो सकते। दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। मानवीय दृष्टि से व्यक्ति में ऐसी दुर्बलता आती है कि एक बार राज्य भोग कर लेने के बाद उसे लौटा देने की स्थिति आए, तो हो सकता है कि व्यक्ति उसमें उलझ जाए। लेकिन भरत जी तो इस दुर्बलता से न केवल मुक्त हैं, बल्कि वे इससे भी बहुत उन्नत हैं। वह इस प्रकार कि जैसे कोई पहले कीचड़ लगा ले और फिर उसे धोए। श्री भरत का अभिप्राय यह है कि पहले मैं अपने आपको राज्य का स्वामी मानूँ और अपने को स्वामी मान कर राज्य दूसरे को दूँ? अगर भोगवृत्ति आ जाए तो मैं राज्य न दूँ, और भोगवृत्ति न आएँ तो राज्य दे दूँ? तो देने के पश्चात् मेरे अन्तःकरण में देने का—दान करने का गर्व होगा या नहीं? क्या मेरे अन्तःकरण में यह वृत्ति नहीं आएगी

कि मैंने इतना बड़ा राज्य राम को दे दिया? यदि मैं अभी राज्य ग्रहण करूँ तो ममताग्रस्त होऊँगा और बाद में जब राज्य दूँगा तो अहंताग्रस्त होऊँगा। तो ऐसी परिस्थिति में सबसे अच्छा यह है कि अहंता और ममता, दोनों को प्रभु के चरणों में अर्पित कर दें। और इसीलिए उन्होंने अहंता और ममता को सचमुच चित्रकूट में श्री राम के चरणों में अर्पित कर दिया। और चित्रकूट से वे क्या लेकर लौटे? वही, जिससे न अहंता रहे और न ममता। भगवान् राम ने कह दिया—भरत, तुम्हें तो लौटकर राज्य चलाना है, प्रजा की, समाज की सेवा करनी है।

समाज की सेवा करना बहुत ही उत्तम कार्य है। रामचरितमानस में भगवान राम ने हनुमान जी से कह दिया—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।। ४/२/७

—तुम मुझे लक्ष्मण से दुगने प्रिय हो। यद्यपि हनुमान जी ने उसे उस अर्थ में नहीं लिया कि मैं लक्ष्मण जी से दुगुना श्रेष्ठ हूँ, परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करके देखें तो हनुमान जी का स्थान श्रेष्ठ है। कैसे? रामायण में दोनों अनन्य भक्त हैं, हनुमान जी भी और लक्ष्मण जी भी। पर दोनों की अनन्यता में भेद है। हमारे भक्ति ग्रन्थों में अनन्यता की दो प्रकार से व्याख्या की गई है—एक अभेदमूलक अनन्यता और दूसरी भेदमूलक अनन्यता। भेदमूलक अनन्यता का प्रतीक चातक है। चातक के विषय में आपने सुना होगा कि वह स्वाति नक्षत्र का जल छोड़कर गंगा, यमुना, सरस्वती या समुद्र किसी का जल नहीं पीता। तो एक प्रकार के अनन्यता का प्रतीक चातक है। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे अनन्य होते हैं, जो भगवान के किसी एक रूप में या किसी एक अवतार में चातक के समान अनन्य भाव से लगे रहते हैं। उस रूप को छोड़कर उन्हें अन्य कोई रूप प्रिय नहीं है। यह चातक की अनन्यता है। लक्ष्मण जी इसी के प्रतीक हैं। विनयपत्रिका में गोस्वामी जी कहते हैं—

चातक चतुर राम स्याम घन के। (३७)

—लक्ष्मण जी रामरूपी श्यामघन के चतुर चातक हैं। उनमें चातक वृत्ति है। श्री राम को छोड़कर किसी पर भी उनकी आस्था नहीं है। पर रामायण में अनन्यता का एक दूसरा रूप भी बताया गया है और वह है अद्वैतमूलक अनन्यता। इस अनन्यता का उपदेश भगवान राम ने हनुमान को दिया। हनुमान जी ने कहा—महाराज मैं तो जानता ही नहीं कि भजन कैसे करना चाहिए। सुनकर भगवान राम बोले—अगर तुम मेरा भजन करना चाहते हो तो तुम्हें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।। ४/३

—मैं सेवक हूँ और सारा ब्रह्माण्ड ही मेरे प्रभु का रूप है, ऐसा समझ कर अपने ही प्रभु को सर्वत्र देखना, यह मेरी अनन्य भक्ति है। हनुमान जी को यह उपदेश भगवान राम लक्ष्मण जी के सामने देते हैं। लक्ष्मण जी अनन्य भाव से भगवान की सेवा कर रहे हैं, पर उनके सन्दर्भ में अनन्यता की परिभाषा दूसरी है। उनकी चातक वृत्ति है। लक्ष्मण जी भगवान राम में भगवान राम को देखकर तो सेवा करने के लिए तैयार हैं, लेकिन भगवान राम जब कहते हैं—

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं ।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ।। २/७१/२
रहहु करहु सब कर परितोषू ।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ।। २/७१/५

—भरत और शत्रुघ्न घर पर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मन में मेरा दुःख है, अतः तुम यहीं रहो और सबको सन्तुष्ट करो अन्यथा बड़ी भूल होगी, इस पर लक्ष्मण जी स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देते हैं। कहते हैं—आप किसकी सेवा करने के लिए कह रहे हैं ? किस माता-पिता की ? मैं तो—

गुर पितु मातु न जानउ काहू ।
कहहुँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । २/७२/४,६

—एक आपको छोड़कर और किसी गुरु या माता-पिता को मैं नहीं जानता। यह है चातक का उत्तर। और हनुमान जी ? हनुमान जी और लक्ष्मण जी में अन्तर यही है कि लक्ष्मण जी भगवान में ही भगवान की सेवा कर सकते हैं, अन्यत्र नहीं। और हनुमान जी को भगवान ने बताया कि तुम्हारी अनन्यता यह है कि सारे संसार में मुझे देखकर सबकी सेवा करना।

एक व्यक्ति के रूप में भगवान की सेवा करना उतना कठिन नहीं है, जितना सारे संसार में भेदों के होते हुए भी सब रूपों में भगवान को देख लेना और सबकी सेवा करना। यह इतना कठिन कार्य है कि इनका निर्वाह केवल दो पात्रों ने किया, या तो हनुमान जी ने या श्री भरत ने। यह अभेद अनन्यता इन्हीं दोनों में है। इनकी दृष्टि में श्री राम में ही श्री राम नहीं है, वे तो जिससे मिलते हैं, जिसको देखते हैं, उसी को प्रणाम करते हैं। सर्वत्र उन्हें श्री राम का ही दर्शन होता है। और इस दर्शन से क्या होता है ? श्री भरत तो न ममता को स्वीकार करते हैं न अहंता को। भगवान राम कहते हैं—भरत, मेरा तो

ऐसा विश्वास है कि जैसा सुन्दर राज्य तुम चला सकते हो, वैसा कोई दूसरा नहीं चला पाएगा। भगवान की इस बात को श्री भरत अस्वीकार नहीं करते। गुरु वशिष्ठ और अयोध्यावासी तो यह समझ रहे थे कि भरत भगवान राम से लौटने का हठ करेंगे। पर श्री भरत ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने भगवान से कहा—"बिनु अधार मन तोषु न सांति।" (२/३१६/२) बिना आधार के मन में न सन्तोष है और न शान्ति। मुझे कुछ आधार दीजिए। निर्गुण और सगुण उपासना का यह एक मुख्य भेद है। निर्गुण उपासना में आधार की अपेक्षा नहीं है। निरालम्ब भाव से व्यक्ति को ऊपर उठने की प्रेरणा दी जाती है। यह अपने स्थान पर, जो इसके अधिकारी हैं, उनके लिए बड़े महत्त्व की बात है। निरालम्ब भाव से भी लोग उठ सकते हैं। हनुमान जी जैसे आकाश मार्ग से समुद्र को पार कर रहे हैं; हनुमान जी तो हर तरह से चल सकते हैं, जल पर भी, नभ पर भी, थल पर भी। इसका अभिप्राय यह है कि हनुमान जी तो ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग—सभी मार्गों से चलने के अभ्यस्त हैं। सर्वत्र उनकी पूर्णता है। निर्गुण-निराकार में कोई अवलम्बन नहीं है। न तो नाम है, न रूप और न गुण। व्यक्ति को बिल्कुल निरालम्ब भाव से अपने को ऊपर उठाना है। लेकिन सगुण-साकार की उपासना में मान्यता यह है कि व्यक्ति जीवन में बिना आधार के नहीं रह सकता। मान लीजिए कोई अधिक आधार लेने लगे तो यह आलोचना की जा सकती है कि बहुत आधार ले रहा है, लेकिन जो सब आधार छोड़ देता है, उसको भी तो आखिर पृथ्वी के आधार पर ही हो खड़ा होना पड़ता है। अगर कोई दूसरे के कन्धे का सहारा न ले, लाठी का सहारा न ले तो कम से कम पृथ्वी का सहारा तो लेना ही पड़ता है। कोई आधार तो चाहिए ही। वैसे श्री भरत में सभी भावों की परिपूर्णता है। समस्त लोगों को साथ लेकर चित्रकूट जाने का तात्पर्य भी यही है। जो घोड़े पर बैठकर गये वे योगी थे और जो हाथी पर बैठ कर गये वे ज्ञानी। इसे आप भौतिक अर्थों में न लें। इसका अभिप्राय यह है कि घोड़े पर जानेवाला व्यक्ति वह है जो घोड़े की चंचलता पर नियन्त्रण स्थापित कर सके। घोड़े का लगाम कस कर पकड़े हुए हो। ईश्वर को पाने की जो साधना योगी की है, वह घोड़े पर सवार उस व्यक्ति की तरह है, जो मन के घोड़े पर बैठा हुआ है और उस पर ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि का लगाम लगाये कसकर पकड़े हुए ईश्वर की दिशा चल रहा है। हाथी विचार का प्रतीक है। विचार पर आरूढ़ होकर, विचार का आश्रय लेकर जो चल रहा है, वह ज्ञानी है। जो रथ पर बैठे हैं; रामायण में रथ को धर्म का प्रतीक माना गया है, जो व्यक्ति विविध प्रकार के सत्कर्म करने वाले हैं, वे धर्म के रथ पर बैठकर

ईश्वर की ओर बढ़ रहे हैं। और जो भक्त हैं, वे पालकी पर बैठकर जा रहे हैं। वे माताएँ जो पालकी पर बैठकर गईं। लिखा हुआ है—

जाइ समीप राखि निज डोली।
राम मातु मृदु बानी बोली॥ २/१८८/४
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी।
चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥ २/१८७/८

—पालकी बड़ी आरामदेह सवारी है। ढोए कोई दूसरा और यात्रा पूरी हो किसी अन्य की। चलना किसी को पड़ता है और यात्रा किसी और की पूरी होती है। श्री भरत ने इस यात्रा में सबके लिए—जो जिसका अधिकारी है, उसके लिए वैसा ही—प्रबन्ध कर दिया है, क्योंकि उनके पास सब हैं—वे ज्ञानी भी हैं, योगी भी हैं, भक्त भी हैं और धार्मिक भी। पर इसके साथ-साथ उनकी एक विशेषता और है। उनके पास सारी सवारियाँ होते हुए भी वे स्वयं पैदल चलते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी को श्री भरत बहुत प्रिय लगते हैं। प्रबन्ध सबके लिए कर दिया, पर स्वयं पैदल चले। किसी ने उनसे पूछ लिया कि पैदल चलने का क्या अर्थ है। उन्होंने कहा कि जिनके पास साधन की सम्पत्ति है, वे सवारी पर चलें, पर जो बेचारा निःसाधन है, जिसके पास रथ, घोड़ा, हाथी, पालकी आदि नहीं है, वह तो पैदल ही चलेगा। हम तो निःसाधन हैं और निः साधन इस तरह से कि ज्ञान कोटि के साधक से लेकर जो बिलकुल साधनहीन हैं, उन सबको हमें ईश्वर के सन्मुख ले जाना है—यही श्री भरत की विशेषता है। और इसीलिए सब को लेकर चित्रकूट पहुँचने पर वे भगवान श्री राम से कहते हैं—महाराज, सब निराधार नहीं रह सकते। भगवान ने कहा—भरत, तुम तो निराधार रह ही सकते हो। उन्होंने कहा—नहीं महाराज, मुझे तो आधार अवश्य ही चाहिए। श्री भरत में दोनों प्रकार की निष्ठा है। वे भगवान को सर्वव्यापी देखकर निर्गुण-निराकार भी स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर आधार और प्रतीक को महत्त्व देकर सगुण-साकार की निष्ठा का भी पालन करते हैं।

यह प्रतीक, जिसकी हम मन्दिर में आराधना करते हैं, यह आधार है। इस आधार से हमारे अन्तर्मन को सहायता मिलती है। इसीलिए श्री भरत कहते हैं—

बिनु आधार मन तोषु न सांति॥

—महाराज बिना आधार के मन को सन्तोष और शान्ति नहीं मिलेगी। मानस-रोगों के सन्दर्भ में सन्तोष और शान्ति का बड़ा महत्त्व है। श्री भरत का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के मन को कोई-न-कोई आश्रय चाहिए, मन की

शान्ति के लिए कोई-न-कोई उपाय चाहिए। श्री भरत के शब्दों से प्रभु प्रसन्न हो गये और उन्होंने—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ २/३१६/४

—भगवान श्री राम ने अपनी पादुका श्री भरत को दे दी और श्री भरत ने उसे अपने मस्तक पर रख लिया। यह पादुका क्या है? यह प्रतीक है; उपासना के लिए आश्रय है। बिना पादुका के भी श्री भरत भगवान का स्मरण कर सकते हैं। पर श्री भरत के रूप में जो महान सन्त हैं, वे सबकी भावनाओं को तृप्त करते हुए पादुका स्वीकार करते हैं और उसे अपने मस्तक पर रखते हैं। भगवान श्री राम ने उनसे थोड़ा विनोद किया। उन्होंने जान-बूझकर श्री भरत को पादुका दी। यह पादुका लाया कौन था? यह भगवान राम के साथ तो थी नहीं। वे तो जूते और पादुका छोड़कर ही आए थे। कैकेयी जी की यह आज्ञा थी। तो यह आई कहाँ से? यह श्री भरत ही लाए थे। क्यों लाये थे? भगवान राम के राज्याभिषेक के लिए वे सारी सामग्री लाए थे, उसमें छत्र, सिंहासन, चामर, तीर्थों का जल और राजा के चरणों में जो पादुका धारण कराई जाती है, वह पादुका भी श्री भरत ही लेकर आए थे। जब भरत जी ने कहा कि महाराज, कोई सहारा दीजिए, तो प्रभु ने मुस्करा कर उन्हीं की लाई हुई पादुकाओं को उठाकर उन्हें दे दिया। मानो भगवान का संकेत यह था कि भरत, यह जो सहारा मैं तुम्हें दे रहा हूँ, यह तो तुम्हारा ही लाया हुआ है, तुम्हारा ही दिया हुआ है। सन्त आश्रय देता है या मैं आश्रय देता हूँ। यह अलग-अलग मत हैं। सन्त ईश्वर से कहता है कोई आश्रय दीजिए और ईश्वर कहते हैं—मेरे पास जो भी है वह सब तो भक्तों का ही दिया हुआ है। अगर मैं कुछ दूँगा, अपनी खड़ाऊ दूँगा तो वह भी मेरी अपनी नहीं है, वह तो तुम्हारी ही दी हुई है। भक्त जो मुझे भेंट करता है, वह तो मैं उसे देता हूँ। भगवान श्री राघवेन्द्र ने पादुका दी और श्री भरत ने उसे मस्तक पर रख लिया। प्रभु ने भरत जी की ओर विनोद-भरी दृष्टि से देखा और बोले—भरत, मिल गया आधार? श्री भरत आनन्दविभोर थे; बोले—हाँ प्रभु; मिल गया। जिसकी ओर भी दृष्टि पड़ी, सबने कहा—मिल गया। अलग-अलग प्रकार के लोग हैं। कोई नाम-जप करनेवाले कोई सेवा वृत्तिवाले, तो कोई कुल की मर्यादा का पालन करनेवाले—सबको इस प्रतीक से आश्रय मिल गया। क्या आश्रय मिल गया?—

चरनपीठ करुनानिधान के।
जनु जुग जामिकप्रजा प्रान के॥ २/३१६/५

भगवान राम की ये दो पादुकाएँ प्रजा के प्राणों की रक्षा करने के लिए मानो दो पहरेदार हैं। और ज्ञानी के लिए? महाराज जनक तो महान ज्ञानी थे, निर्गुण-निराकारवादी थे, भगवान राम की दृष्टि उनकी ओर गई; आपको कैसा लगा? जनक जी बोले—मुझे तो लग रहा है मानो—

संपुट भरत सनेह रतन के।

—यह पादुका नहीं, भरत जी के प्रेमरत्न को रखने के लिए स्वर्ण मंजूषा दी गई है। इसमें भरत का प्रेम छिपा हुआ है। जो राम नाम के जप करने वाले थे, उन्हें लगा कि ये रा और म दो अक्षर हैं—आखर जुग जनु जीव जतन के। २/३१६/६ माताओं को लगा कि यह 'कुलकपाट' कुल की लज्जा बचाने वाले किवाड़ हैं—"कुलकपाट कर कुसल करम के।" और जो सेवा करने वाले हैं, उनको लगा—"बिमल नयन सेवा सुधरम के।" ये सेवाधर्म के दो निर्मल नेत्र हैं।

सबको कुछ न कुछ मिला। पर सबसे अधिक किसने पाया? भगवान् राम ने जब श्री भरत की ओर देखा और पूछा—मिल गया आधार? क्या मिला? तो श्री भरत ने तुरन्त कहा—

भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥ २/३१६/८

—महाराज, मैं आपको लौटाने आया था और समझ गया कि आप मेरे साथ लौट रहे हैं। इन दोनों रूपों में आप ही मेरे साथ चल रहे हैं। जो यह भेद करते हैं कि यहाँ ईश्वर आधा है, यहाँ चौथाई है—कई लोग कहा करते हैं कि मनुष्य में ईश्वर का अंश अधिक और पशुओं में कम है—उनका गणित तो अनोखा ही है। श्री भरत का गणित क्या है? ईश्वर जितना पूर्ण श्री राम में है, उतना ही उनकी पादुका में भी है। कितनी परिपूर्ण दृष्टि है उनकी। इसी दिव्य परिपूर्ण दृष्टि के कारण उन्हें उन पादुकाओं में श्री राम और श्री सीता की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है, उन्हें यही अनुभव हो रहा है कि श्री राम परिपूर्ण रूप से उनके साथ अयोध्या लौट आये हैं। और इसीलिए जब वे सिंहासन पर बिठाते हैं तो लोगों को आश्चर्य होता है कि जहाँ पर प्रभु को बिठाना चाहिए वहाँ पर पादुकाओं को रख दिया। सामान्य दृष्टि से सचमुच बड़ा विचित्र लगता है। अगर किसी के शयन करने के पलंग पर कोई उसका जूता रख दे तो वह तो बुरा मान सकता है कि यह कोई जूता रखने की जगह है? पर श्री भरत की भावना क्या है? श्री भरत को अगर खड़ाऊँ दिखाई दे रहा हो, तब तो सिंहासन पर नहीं बिठाते, पर जब उन्हें साक्षात् भगवान् और श्री सीता ही दिखाई दे रहे हैं तो उन्होंने सिंहासन पर पादुका नहीं, भगवान् और सीता जी

को बिठाया है। और उन्हें बिठाकर राजकाज चला रहे हैं। राजा कौन है? भगवान् राम और श्री सीता जी। आदेश किसका चलता है?

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयं समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥ २/३२५

—श्री भरत नित्य प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं और उनसे आज्ञा लेकर राज्य का संचालन करते हैं। पादुकाओं की पूजा करने का तात्पर्य यही है कि वे नित्य भगवान् राम से पूछते हैं कि महाराज, राज्य आपका है, सिंहासन पर आप बैठे हैं, बताइए अयोध्या का राज्य कैसे चलावें? भरत जी ने, न तो कभी अपने में स्वामित्व की अहंता स्वीकार की और न ही राज्य की ममता। स्वयं उनके मन में ही कोई रोग नहीं है, पर सजग इतने हैं कि गोस्वामी जी ने लिखा—

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥ २/३२६/२

"तप तनु कसहीं"—इस शब्द पर जरा ध्यान दीजिए। इसका अर्थ क्या है? जब आप किसी सर्राफ के यहाँ सोना लेकर जाते हैं, तो वह सोने को कसौटी पर कसकर देखता है। लेकिन वह एक बार ही तो देखता है। यह तो नहीं कि वह सोने को हर घण्टे निकालकर बार-बार रगड़े। अगर कोई दिन-रात देखता ही रहे, तब तो कोई ग्राहक उसके पास नहीं आएगा। वह तो बस एक बार देखेगा और कह देगा कि सोना खरा है या खोटा। पर गोस्वामी जी एक बहुत बड़ी बात कहते हैं—इस सोने को चाहे तो आप एक ही बार कसौटी पर कसें, पर मन के सोने को जीवन भर कसौटी पर कसते रहिए। कभी मत विश्वास कीजिए कि अब मेरा मन खरा हो गया, अब कभी खोटा नहीं होगा। इसलिए श्री भरत जैसे महापुरुष भी चौदह वर्षों तक एक ही कार्य करते रहे—"भरत भवन बसि तप तनु कसहीं।" अपने शरीर को कसकर देखते रहते हैं कि कहीं भोग की वृत्ति तो नहीं आ गई, कहीं लालसा या अधिकार की वृत्ति तो नहीं आ गई? जब श्री भरत अपने चरित्र का ऐसा अद्भुत शोधन करते हैं, तो परिणाम क्या होता है? जब भरत जी जैसे व्यक्ति, जिनका चरित्र इतना निष्कलुष है, प्रतिक्षण मानसिक बुराइयों की ओर से इतने सावधान हैं, तो उनकी प्रजा-सेवा का परिणाम यह होता है कि प्रजा की बुद्धि शुद्ध हो जाती है। प्रजा मात्र का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, सबके मन के रोग दूर हो जाते हैं।

लंका में भगवान् राम के सामने जो संकट आया, श्री लक्ष्मण जी बीमार पड़ गये, वहाँ पर भी सन्दर्भ वही है—काम का आक्रमण हुआ है वैराग्य पर।

मेघनाद ने लक्ष्मण जी पर आक्रमण किया। लक्ष्मण जी ने मेघनाद को बार-बार पराजित किया था। पर पराजित होने के बाद भी वह अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता। वैराग्य के द्वारा आप काम को हराने की चेष्टा कीजिए, पर काम इतनी जल्दी हार नहीं मानता। एक बार तो ऐसी स्थिति आ गई कि लक्ष्मण जी के प्रहार से मेघनाद को लगा कि वह मरा, और तब उसने अपने अन्तिम शस्त्र का प्रयोग किया। लक्ष्मण जी पर ऐसी शक्ति का प्रयोग किया, जो अमोघ थी। लक्ष्मण जी मूर्छित हो गए। भगवान् श्री राम ने लक्ष्मण जी से पूछा—लक्ष्मण, मूर्छा से तुमने क्या अर्थ लिया? तुम मेघनाद के बाण से मूर्छित हो गये, इससे बढ़कर कोई आश्चर्य नहीं। लक्ष्मण जी ने भगवान् के चरणों में प्रणाम करके कहा—प्रभो, इससे तो मुझे सबसे बड़ी शिक्षा मिली। क्या? मैं जीवन भर जागता रहा, कभी सोया नहीं कि कहीं कोई बुराई मुझ पर आक्रमण न कर दे। पर पता चल गया कि बिना आपकी गोद में सोए, केवल अपने जागने से बुराइयों से पूरी तरह बचना सम्भव नहीं है। इसीलिए मुझे भी एक दिन आपकी गोद में सोना पड़ा। सचमुच लक्ष्मण के समान प्रबुद्ध कौन हो सकता है?

जानिअ तबहिं जीव जब जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ २/९३/४

—जब समस्त भोग-विलासों से वैराग्य हो जाय तभी जानना चाहिए कि जीव जाग गया है। लक्ष्मण जी तो नित्य जाग्रत, सदा प्रबुद्ध वैराग्य के प्रतीक हैं। पर आज एक क्षण के लिए जैसे उन्हें झपकी सी आ गई थी। जब मेघनाद आक्रमण करने आया, तो बन्दरों ने लक्ष्मण जी को पुकारा और तब—

लछिमन क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ। ६/५२

—धनुष-बाण हाथ में लेकर क्रुद्ध हो चल पड़े। महान प्रबुद्ध साधक, जो काम का विजेता है, वैराग्यवान है, वह काम से लड़ने चल पड़ा। लेकिन क्षण भर के लिए जैसे ईश्वर विस्मृत हो गया, ईश्वर से जैसे एकत्व होना चाहिए, वह एक क्षण के लिए छूट गया। और तब वैराग्य मूर्छित हो गया। मेघनाद के बाण से लक्ष्मण मूर्छित हो गये। पर हनुमान जी ने तुरन्त उन्हें उठा लिया और प्रभु की गोद में सुला दिया। इसका अभिप्राय क्या है। गोस्वामी जी हनुमान जी के लिए वैराग्य के साथ एक शब्द और जोड़ देते हैं—

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय। (विनय पत्रिका)

हनुमान जी प्रबल वैराग्य हैं। भगवान् राम की दृष्टि हनुमान जी की ओर गई। वैराग्य मूर्छित हो गया तो उसे चैतन्य करने का कार्य प्रबल वैराग्य को सौंपा गया! भगवान् का संकेत यह था कि काम के प्रहार से लक्ष्मण मूर्छित है तो उसकी दवा प्रबल वैराग्य हनुमान जी ले आवें। हनुमान जी दवा लेने गये पर वे भी उस दिन दवा नहीं पहचान पाये। तो क्या किया, पूरा पर्वत ही उठा कर चल पड़े।

प्रभु ने हनुमान जी से पूछा—हनुमान, तुम्हारा अयोध्या जाने का विचार कैसे हुआ? उन्होंने कहा—महाराज, मेरा विचार थोड़े ही हुआ, वह तो आपने मुझे भेज दिया। क्यों? आपने जब देखा कि लक्ष्मण तो अस्वस्थ है ही और उसकी दवा लेकर आने वाला स्वयं बीमार हो रहा है। उसकी भी चिकित्सा कराने के लिए किसी-न-किसी के पास तो भेजना ही चाहिए। तो आपने मुझे चिकित्सा के लिए भरत जी के पास भेज दिया था। भगवान श्री राम हनुमान जी को मन की समस्या का समाधान पाने के लिए भरत जी के पास भेज देते हैं। भगवान राम और भरत जी की भूमिका तो आप जानते ही हैं। भगवान राम ईश्वर हैं और श्री भरत मूर्तिमान प्रेम।

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥ २/१८४/४

हनुमान जी जब गये तो भगवान् को प्रणाम करके गये थे।

राम चरन सरसिज उर राखी। ६/५६/१

भगवान् राम के चरणों को हृदय में रखकर गये थे। पर जब अयोध्या से लौटने लगे तो उन्होंने कुछ बदल दिया। तब उन्होंने भगवान् के चरणों में प्रणाम नहीं किया, श्री भरत के चरणों में प्रणाम किया। प्रभु ने पूछ लिया—क्या अयोध्या जाकर तुमने मन्त्र बदल लिया? इष्ट बदल लिया? मेरे चरण भूल गये? हनुमान जी ने कहा—प्रभो, मुझे आपके स्थान पर श्री भरत जी के चरणों का आश्रय इसलिए लेना पड़ा कि जब मैं आपके चरणों का आश्रय लेकर चला तो अहंकार की छाया आ गई थी और वह छाया श्री भरत की भुजाओं की कृपा से मिटी। इसलिए मैं समझता हूँ कि आपके चरणों की अपेक्षा भरत जी की भुजाएँ कहीं अधिक समर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर का आश्रय लेने के बाद भी बुराई पूरी तौर से तब तक नहीं मिटेगी, जब तक हम प्रेम का आश्रय नहीं लेंगे। भगवत्प्रेम की परिपूर्णता जब जीवन में आती है तब मानसिक दोषों का निराकरण अपने आप हो जाता है।

□□